सुख की प्राप्ति और सुखाभास

पद्य—सर्वात्म वशंसुखम् ।

अर्थ—सर्वथा स्वाधीन होना सुख है ॥ १ ॥

दुनियाँ में जितनी तरह की उन्नतियां हैं, उन सब का मूल ज्ञान की उन्नति है। जानवरों के माफ़िक़ सिर्फ़ इन्द्रियों की तृप्ति मात्र को छोड़ कर तुम इस धरती तल पर ऐसा कोई भी सुख निर्देश करके नहीं बता सकते हो जिस का मूल कारण ज्ञान की उन्नति नहीं हो ॥ २ ॥

तत्व दृष्टि से इन्द्रिय सुख भी आनन्दानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह आनन्दानुभूति उसी प्रकार घृणित है, जैसे परनाले के मुँह से दरबार का दृश्य देखना ॥ ३ ॥

सुखकर वही है, जिससे इच्छा घटे और तृप्ति बढ़े। जिससे इच्छा और अतृप्तता बढ़ती जाय वह सुखकर कभी नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

सुखाभिलाषा होने पर उसी सुख की कामना चाहिये जिस का कभी ह्रास न हो और जिसमें दुःख की कालिमा न लगी हो ॥ ५ ॥

जो हमारे स्वाधीन है और विपत्ति में हम से जुदा न हो, वही आनन्द है—सच्चा सुख है ॥ ६ ॥

जानते हो ! जिस सुखकी प्राप्ति की अपेक्षा प्रतीक्षा में अधिक मधुरता मालूम होती है, वह सच्चा सुख नहीं सुखाभास है । इन्द्रिय विषयों के सुखका यही हाल है इन्द्रिय विषय संयोग के साथ ही वियोग-कल्पना की हवा चलने लग जाती है ॥ ७ ॥

इन्द्रिय जन्य सुख का अनुभव इन्द्रियों की परवशता से होता है, अर्थात् जो प्राणी जितना ही इन्द्रियों के वश में होगा उसे उतना ही उसमें अधिक सुख का अनुभव होगा । ऐसा मनुष्य सदा इंद्रियों के अधिकार में वास करेगा ॥ ८ ॥

अपनी इच्छाओं को सीमाबद्ध करने में सुख को खोजो, नकि उन्हें पूर्ण करने में ॥ ९ ॥

उच्च आकांक्षा का तो कहीं अन्त ही नहीं है । अतः आवश्यकताएं जहाँ तक हो, संक्षिप्त करलो । देखें फिर सुख कैसे नहीं आता है ॥ १० ॥

सब झूँठी चिंताओं का त्याग करो। दुनियां की सब चीज़ें हमारे ही लिये नहीं हैं, इस बात का विचार करते हुए अपने स्वार्थों को घटाओ। आनन्द को क्यों व्यर्थ-बातों में ढूंढ़ते फिरते हो? ॥ ११ ॥

अपनी शक्तियों—चेष्टा—का प्रयोग करने में जो कष्ट और कठिनाइयां भोगनी पड़ती हैं, उन्हीं से हमें वास्तविक सुख होता है और उन्हीं से ही हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह क़ीमती होता है। १२ ॥

जिस प्रकार—

पद्यः—भानु विकल हेरत फिरत, कित किरनन को मूल।
धावत अपनी खोज में, आप आप को भूल ॥

उसी प्रकार—मनुष्य सुख-खान अपने आप को भूलकर दुनियाँ में सुख को खोजता फिरता है ॥ १३ ॥

क्यों अखिल ब्रह्मांड छानते फिरते हो, अपने आप में क्यों नहीं देखते, तुम जो चाहते हो सो और कहीं नहीं, अपने आप में है ॥ १४ ॥

यदि हम दरअसल में सुखी रहना चाहते हैं तो, किसी प्रकार की मिलकियत न रक्खें, या तभी तक रक्खें जब तक हमारे पड़ोसी उसे रहने दें ॥ १५ ॥

दूसरों के लिए दुःख स्वीकार करना क्या सुख नहीं है ॥ १६ ॥

बाहर की संपत्ति के लिए मनुष्य यों हाय वाय करता है, वह नहीं देखता कि मनुष्य-हृदय के भीतर अतुल सम्पत्ति अनादर के भाव से पड़ी हुई है। बाहर सुख की इतनी तय्यारी है, पर भीतर जो सुखका समुद्र भरा पड़ा है, उधर किसी का ध्यान ही नहीं है। सुख अपने हाथ के पास ही है, इतना निकट—इतना सहज है तो भी सारे संसार के मनुष्य अन्धों की तरह उसे टटोलते फिरते हैं। सिर्फ़ निःस्वार्थ प्रेम करके मनुष्य उसे प्राप्त कर सकता है, सुखी हो सकता है ॥१७॥

दूसरों को सुखी करना ही वास्तव में सुख है। अपने आप को सुखी करने की चेष्टा प्रायः व्यर्थ ही हुआ करती है। हिंस्त्र जंतुओं ही की तरह वह चेष्टा अपनी सन्तान को आप ही खाजाती है ॥ १८ ॥

दूसरों के भले ही में अपना भला है, इस कथन की व्यापकता भौतिक जगत तक में पाई जाती है। मुहल्ले में आग लगे तो अपने घर का सुरक्षित रहना अड़ोस पड़ोस के घरों की रक्षा पर ही निर्भर है ॥ १९ ॥

जिस की महानता की जड़ भलाई में नहीं है, उस का अवश्य ही पतन होगा ॥ २० ॥

हम जैसा (भला–बुरा) दूसरों का चाहते हैं, हमारा वैसा ही हो जाता है ॥ २१ ॥

जो मृत्यु की उपेक्षा करते हैं, पृथ्वी का सारा सुख उन्हीं का है। जो जीवन के सुख को तुच्छ समझते हैं, मुक्ति का आनन्द उन्हीं को मिलता है ॥ २२ ॥

जो (स्वेच्छा से) मरना जानता है, सुख पर उसी का सच्चा अधिकार है। जो विजय प्राप्त करता है, भोग उसीको सुहाता है। जो अपने जीवन के साथ सुख और विलास को दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़े रहता है, सुख उस अपने घृणित दास के आगे सारा भंडार नहीं खोल देता, उसे केवल झूँठन देकर ही द्वार पर डाल रखता है। किन्तु जो मृत्यु का बुलावा पाते ही चुटकी बजाकर चल देते हैं और सदा आदर पाये हुए सुखकी ओर एक बार फिर कर भी नहीं देखते, सुख उन्हीं को चाहता है और सुख को वे ही जानते भी हैं। जो दृढ़ता के साथ त्याग कर सकते हैं। वे ही निःशंक होकर भोग भी सकते हैं। जो मरना नहीं जानते, उनके भोग विलास की दीनता, दुर्बलता, और घृणितपन,

घोड़े गाड़ी तमगा चपरास से नहीं ढँका जा सकता। त्याग की विलास शून्य कठोरता में पुरुषार्थ है। यदि इच्छा पूर्वक उस त्याग को हम स्वीकार करें, तो निःसंदेह हम अपनेको लज्जा से बचा सकते हैं ॥२३॥

औचित्य का आनन्द, उचित सन्निवेश का आनन्द, किसी दूरवर्ती के साथ सम्मिलन का आनंद और परिचित पदार्थ का किसी मनोहर रूप में देखने का आनन्द, ये सब आनन्द मानसिक आनंद हैं। बिना भीतर घुसे बिना समझे इस आनन्द को भोगने का दूसरा उपाय नहीं है। केवल बाहर से चटपट जो सुख प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा यह आनंद चिर स्थायी और गहरा होता है। जो गहरा नहीं है वह बढ़ने के साथ—अभ्यास के साथ—क्रमशः क्षीण होता जाता है और उसका खाली पन प्रकट होजाता है, किन्तु जो गंभीर है उसमें बहुत लोगों की पैठ न होने पर भी, वह चिर स्थायी होता है उसमें जो एक श्रेष्ठता का आदर्श होता है, वह सहज ही जीर्ण नहीं होता ॥ २४ ॥

जिस संयोग में वियोग का खटका है, जो संयोग ऐसे कच्चे शरीर के आधीन है, जिसके साथ रोग बुढ़ापा और मरण के कीड़े लगे हुए हैं, जो सतत भोग भोगने

देने में बाधक है, असमर्थ है, ऐसा आकुलित संयोग शांति दायक कभी नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

उच्च आदर्श का सुख वही कहा जा सकता है, जो क्षणिक या अन्य का अनिष्ट करने वाला न हो और उच्च आदर्श की भोग्य वस्तु वही कही जा सकती है, जो उस उच्च आदर्श के सुख का कारण हो और जिसे प्राप्त करने में पराई प्रत्याशा या अन्य का अनिष्ट न करना पड़े ॥२६॥

इन्द्रिय सुख जितने हैं, सभी क्षणिक हैं। जब तक इन्द्रिय ग्राह्य वस्तु का भोग किया जाता है, तभी तक उस सुख का अनुभव होता है, उस के बाद फिर वह सुख नहीं रहता, और उस बीते हुए सुख की स्मृति सुख दायिनी न होकर दुःख ही देती है। किन्तु सत्कर्म करने से उत्पन्न सुख उस तरह का क्षणिक नहीं होता, और उस की स्मृति भी सुख देने वाली होती है। इस के सिवाय इन्द्रियों की भोगशक्ति भी सीमाबद्ध है। इन्हीं कारणों से इन्द्रिय सुख कभी उच्च आदर्श का सुख नहीं हो सकता। इन्द्रिय सुख के उपभोग में आने वाली वस्तु भी कभी उच्च आदर्श की भोग वस्तु नहीं है, उसे प्राप्त करने के लिए दूसरे की प्रत्याशा करनी पड़ती है। इस के सिवाय पृथ्वी का परिणाम बहुत विस्तृत होने

पर भी अच्छे दर्जे की भोग्य वस्तु का परिणाम असीम नहीं है, अतः एक आदमी अगर अधिक परिमाण में अच्छी वस्तु का भोग करेगा तो साक्षात सम्बन्ध से अथवा प्रकाराँतर से अन्य की भोग वस्तु का परिमाण सङ्कीर्ण करना होता है, और इसी कारण अन्य का अनिष्ट भी उसके द्वारा होता है। इस तरह की भोग्य वस्तु उच्च आदर्श की भोग्य वस्तु कभी नहीं हो सकती ॥ २७ ॥

सच यह है कि—मनुष्य निरन्तर सुख की खोज में लगा हुआ है। और सुख की खोज करते २ ही क्रमशः न्याय की ओर नज़र पड़ती है, क्योंकि इस विश्व के विचित्र नियम के अनुसार जो न्याय सङ्गत है, वही यथार्थ सुखकर है। हम अपने सुखके लिए स्त्री पुत्र कन्या को प्यार करना पहिले सीखकर अंत को पराये सुख के लिये सारे विश्व के प्रेम के अधिकारी होते हैं। जो श्रेय है वही यथार्थ प्रेय है, इसी लिए प्रेय की खोज में जाकर क्रमशः हम श्रेय को पाते हैं। यह सृष्टि का विचित्र कौशल है। किन्तु इसीलिए यह कहना ठीक नहीं, कि जो सुखकर है वही कर्तव्य है और जो प्रेय है वही श्रेय है ॥ २८ ॥

देह युक्त होने के कारण हमारे कुछ अभावों को

पूर्ण करने का अत्यन्त प्रयोजन है, उस अपूर्णता के कारण हम यह नहीं समझ पाते कि हमारा यथार्थ सुख क्या है? इसीलिए अनेक समय सुख की खोज हमें कुमार्ग में ले जाती है और हम तात्कालिक सुख की लालसा में फंसकर भविष्य के चिरस्थायी सुख की बात भूल जाते हैं और ऐसे कार्य कर बैठते हैं—जिनसे कम से कम कुछ काल के लिए उस चिरस्थायी सुख की आशा नष्ट हो जाती है। असंयत सुख की खोज निन्दनीय है। वह न हो तो यथार्थ सुख की अभिलाषा में दोष नहीं है। सुख लाभ की प्रवृत्ति हमारा स्वभाव सिद्धधर्म है। उस का उद्देश्य हमें उन्नति की राहमें लेजाना है। वही प्रवृत्ति सब जीवों को यथार्थ या कल्पित सुख की लालसा में डालकर कर्म में नियुक्त करती है। उसी कर्म के फल से कोई जीव उन्नति की राह में और कोई जीव अवनति में जाता है। जो जीव कुमार्ग में जा पड़ते हैं, वे फिर शीघ्र हो या विलम्ब से हो, उस राह में सच्चा सुख न पाकर, सुखकी खोज में उधर से लौट आते हैं। केवल सुखलाभ की प्रवृति के ही बारे में नहीं, हर एक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। जिन हिंसा द्वेष आदि प्रवृत्तियों को निकृष्ट कहा जाता है, उनका

भी मूल उद्देश्य एक दम बुरा नहीं है। कारण, उनका संयत कार्य स्वार्थ-रक्षा है, परार्थ की हानि नहीं। पर हाँ, विश्व का विचित्र नियम यही है कि प्रवृत्ति मात्र ही सहज में असंयत हो उठती है और उचित सीमा को लांघ कर कार्य करने लगती है। इसीलिये प्रवृत्ति-दमन का इतना प्रयोजन है, इसीलिये प्रवृत्ति इतनी अविश्वस्त पथ-प्रदर्शक है और इसी लिये कर्ता की सुख-कारिता कर्म की कर्तव्यता का इतना अनिश्चित लक्षण है ॥ २९ ॥

भोगी का सुख

सुख प्रतिदिन की वस्तु है।

शरीर में कहीं धूल न लग जाय, इस प्रकार की शङ्का से सुख संकुचित और शंकित रहता है। सुख धूल को हेय समझता है।

कुछ खो न जाय इस आशङ्का से सुख सदा भयभीत रहता है। भोगी के लिये खालीपन या गरीबी में सुख नहीं होता।

सुख, नियम के बंधन में रह कर बड़ी सावधानी से अपनी शोभा की रक्षा करता है।

सुख बाहर के नियमों से बंधा है।

सुख अमृत के लिये ताक लगाये बैठा रहता है। सुख को केवल अच्छे पदार्थों का ही पक्षपात है॥३०॥

त्यागी का आनन्द

आनंद प्रतिदिन की सामग्री नहीं है।

आनंद धूल में लोट पोट कर सब के साथ अपने अन्तर को हटा कर मिल जाता है। आनंद धूल को भूषण समझता है।

आनंद अपना सर्वस्व लुटाकर तृप्त होता है। आनंद के लिये दरिद्रता ऐश्वर्य है।

आनंद संहार में मुक्ति में अपने सौन्दर्य को उदारता के साथ प्रकाशित करता है।

आनन्द बंधन को तोड़कर अपने नियमों को आप गढ़ता है।

आनन्द, दुःख के विषयों को अनायास ही पचा जाता है।

आनन्द के लिये भले बुरे दोनों बराबर हैं॥ ३०॥

जो कार्य अथवा जो भावना आत्मसंतोष में परिणत नहीं हो सकती, वह आनन्द धाम में ले जाने को असमर्थ है॥ ३१॥

जिसने किसी को सुख नहीं पहुँचाया, उसका सुख पर अधिकार ही क्या है ॥ ३२ ॥

जो कंचन कामिनी के पीछे दौड़ता है, आनंद उसके पीछे नहीं दौड़ता ॥ ३३ ॥

यह एक बिलकुल सीधी और सच बात है कि सुख मनसे सम्बन्ध रखता है, आयोजन या आडम्बर से नहीं ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार बिना भूख के खाया हुआ भोजन नहीं पचता उसी प्रकार बिना दुःख के सुख भी नहीं पच सकता ॥ ३५ ॥

सुख कहीं संसार के बाहर नहीं है, वह तो यहीं पर दुःख के साथ मिला हुआ है। सिर्फ़ ज्ञान शक्ति से उसे दुःख से अलग करके प्राप्त करना पड़ता है ॥ ३६ ॥

पद्य :—

(३७)

बस चाहने से ही किसी को सुख नहीं मिलता कभी।
कर्मण्य बन साधन जुटाओ आ मिलेगा सुख तभी॥

(३८)

धूप होती है वही, जो छांह रहती है प्रथम।
सुख वही, जो दुःख रहा, कैसा निराला है नियम॥

(३९)

है उपज सब हृदय की सारा उसी का फेर है।
निज हृदय अनुकूल है तो सुख, नहीं दुःख ढेर है ॥

सुख दुःख भिन्न वस्तु नहीं है—एक ही है। फ़र्क केवल उसके आविष्कार में है और वह भी जाति का नहीं, अंश (डिग्री) का है ॥ ४० ॥

सुख का उद्गम स्थान अन्तःकरण है, न कि बाह्य वस्तु ॥ ४१ ॥

सोना चांदी दुर्लभ है, लेकिन सुख अत्यंत सुलभ और सहज है। घट के पट खोलने की ज़रूरत है ॥४२॥

एक दृष्टि से शक्ति और शांति पर्याय वाचक शब्द हैं। मनुष्य में जितने प्रमाण में शक्ति होगी उतने ही प्रमाण में शांति होगी। बिना शक्ति के शांति नहीं हो सकती ॥ ४३ ॥

ज्ञान का बहुमूल्य-रत्न मन की शांति है ॥ ४४ ॥

पद्य :—

(४५)

धनियों के सिर चिंता डाकिन, दीन बजावे बीन।

विवेक विनय और शिष्टाचार के बिना शांति कैसे रह सकती है ॥ ४६ ॥

पद्य :—

(४७)

दुःखी दुःखाधिकं पश्येत्, सुखी पश्येत् सुखाधिकं ।

शीतोष्ण जड़ जगत में वही सबल शरीर कहलाता है, जो विना कष्ट के गर्मी सर्दी को सहन कर सकता है और रोगी नहीं होता। इसी तरह सुख दुःखमय संसार में वही सबलमना कहा जासकता है, जो समभाव से सुख दुःख भोग सकता है। दुःख में जो व्याकुल नहीं होता है और सुख में विगतस्पृह (इच्छारहित) रहता है ॥ ४८ ॥

ऐ भले मानुष ! तू ही तो अपनी निगाहों से वस्तुओं को आकर्षक बना देता है—वार वार देखकर उन पर सौन्दर्य का परदा चढ़ा देता है और फिर तूही उनके प्रेम में फंस जाता है ॥ ४९ ॥

मनुष्य केवल शांति ही नहीं तृप्ति भी चाहता है ॥५०॥

जो गुण हीन है उसे धनसे भी सुख नहीं मिलता और उसका धन (ज्ञान) बहुत ही सहज में नष्ट हो जा सकता है ॥ ५१ ॥

इन्द्रियों का सुख चाहने वाले मध्यम अवस्था में

ही सन्तुष्ट रहते हैं। राज्य प्राप्ति या बनवास ही सुख का मूल कारण है ॥ ५२ ॥

कर्म का चरम उद्देश्य सुख लाभ अवश्य है, किन्तु वह सुख क्षणस्थायी या साधारण सुख नहीं है, वह चिरस्थायी परम सुख है और कर्तव्य कर्म करने से ही वह सुख मिलता है ॥ ५३ ॥

वह बड़ा सुखी है जिसे न तो गत कल पर बेकली है और न आगत कल पर मन चली है ॥ ५४ ॥

बिचार करने पर यही अनुभव होता है कि मनुष्य की गति सुख (भोग) की ओर नहीं, किन्तु ज्ञान की ओर है ॥ ५५ ॥

जो सुख इन्द्रियों से मिलता है वह अपने और पर को बाधा पहुँचाने वाला, हमेशा न ठहरने वाला, बीच बीच में नष्ट हो जाने वाला, कर्म बंध का कारण तथा विषम होता है, इसलिये वह दुःख ही है ॥ ५६ ॥

अपने कार्य में जागृत रहने और यथाशक्ति उद्यम करते रहने से मनुष्य संतोष पा सकता है ॥ ५७ ॥

कर्तव्य उसका महत्व और प्रेरणा

पद्य :—

(१)

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवाव धार्यतां ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत् ॥

अर्थ—हे भव्य ! धर्म का सार सुन और सुन कर उसे धारण कर। धर्म का सार यह है कि जैसा व्यवहार तुम दूसरों से नहीं चाहते हो वैसा व्यवहार तुम भी दूसरों के साथ मत करो ।

(२)

मनः पूतं वदेद्वाक्यं वाक्यपूतं समाचरेत् ।

अर्थ—मन में हो सो वचन से कहो और वचन से कहो उसे आचरण में लाओ ।

(३)

बकना मत, करके दिखलाना ।

(४)

मीठे के हित कडुआ चखना ।

(५)

प्राण भले दो, मान न दो ।

(६)

निज सहचरों का शोक तो आजन्म रहता है बना ।
पर चाहिये सब को सदा कर्तव्य अपना पालना ॥

(७)

न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है ।

(८)

भूले हुए को पथ दिखाना यह हमारा कार्य है ।

(९)

देख सकते हैं अशुभ क्या, स्वामि का सेवक कभी ।
हों न हों कृत कार्य तो भी, यत्न करते हैं सभी ॥

हमारा जीवन एक नाटक के समान है, यह संसार रङ्गभूमि है । दारिद्र, धनाढ्य, शोषक और शोषित तथा ऐसे ही और सब इस नाटक के पात्रों के रूप में हैं । अन्त समय पर जब यह नाटक समाप्त होजायगा और नकली चेहरे उतार डाले जायँगे तब प्रत्येक पात्र की जाँच होगी—उसका काम देखा जायगा । पात्रों की धनाढ्यता पदाधिकार महत्व और बल न पूछा जायगा, केवल उनका काम ही देखा जायगा । इस लिये इस

दुनिया में ऐसा पार्ट खेलो कि जिससे परमात्मा की जाँच में पूरे उतरो ॥ १० ॥

हे मानव ! तेरे जैसा तू ही है, प्रकृति ने एक सरीखी दो वस्तुएँ कहीं नहीं बनाईं। अतः तेरा जो कर्तव्य है उसे तू न करेगा तो संसार के सरवाये (आँकड़े) में यह भूल सदा ही होती रहेगी ॥ ११ ॥

तुम अपने जन्म के लिये उत्तर-दाता नहीं हो सो तो ठीक, किन्तु अपने कामों के लिये तो उत्तर-दाता हो ॥ १२ ॥

यारो ! बहाना क्यों करते हो, बनाव उतने बुरे नहीं हैं जितने कि तुम बुरे हो ॥ १३ ॥

तत्व जानने की इच्छा हमें ज्ञान के उपार्जन की ओर प्रेरित करती है और उन्नति की चेष्टा हमें कर्म कराने में लगाती है। ज्ञान का उपार्जन और कर्म का अनुष्ठान ही मनुष्य जीवन का प्रधान कार्य है ॥ १४ ॥

जब हम मरें तो दुनियाँ को अपने जन्म के समय से अधिक शुद्ध करके छोड़ जायँ, यह हमारे जीवन का उद्देश्य होना चाहिये ॥ १५ ॥

किसी को संतुष्ट करने के लिये अपने साथ अविचार मत करो। अर्थात् हृदय की आवाज़ को मत दबाओ ॥१६॥

ठहरो ! स्नेह के चरणों में तुम अपने स्वार्थ की बलि दे सकते हो लेकिन कर्तव्य की नहीं ॥ १७ ॥

याद रक्खो ! जब तुम्हें कर्तव्य पुकारे, तब किसी की बात पर ध्यान मत देना ॥ १८ ॥

यदि हम शिक्षक पर ही क्रोध करना कर्तव्य समझेंगे तो हम को फिर ठोकर खानी पड़ेगी। जो सच्ची बाधा है चाहे जैसे हो उसका हमें सामना करना ही चाहिये। उसकी निगाह बचाकर निकल जाने का कोई रास्ता ही नहीं है ॥ १९ ॥

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य इस बात का ज़िम्मेदार नहीं कि—जहाँ कहीं भी उसे बुराई दिखाई दे उसे दूर करे। तथापि उस बुराई में भाग लेने से बचे रहना प्रत्येक के लिये आवश्यक है ॥ २० ॥

विचार के अनुसार कार्य न करने से क्या तुम्हें संतोष होता है ॥ २१ ॥

जब हमारा यह कर्तव्य है कि पाप से दूर हट जायँ, तब फिर यह क्यों पूछते हो कि हटने से जो परिणाम होगा वह कैसा होगा। चाहे जैसा हो ॥ २२ ॥

सिवाय पाप के किसी के बाप से मत डरो, यही कर्तव्य है ॥ २३ ॥

दूसरों को आगे बढ़ने देने या अपनी बराबरी पर आने देने तक, अपनी उन्नति रोक देने की इच्छा न हो तो जाने दो, किन्तु दूसरों के बढ़ने में बाधा तो मत डालो—दूसरों को दबाकर तो मत बढ़ो—दूसरों की बढ़ती देख कर नाराज़ तो मत होओ। अर्थात्—दूसरों के हक़ की रक्षा करते हुए अपना हक़ सम्पादन करना ही कर्तव्य है ॥ २४ ॥

स्वाभाविक कर्तव्य—वह कर्तव्य जिसके लिये प्रकृति स्वयं ही उकसाती है—दुर्निवार हो सकता है, पर सभी समयों में वह श्रेयस्कर नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

कम से कम ऐसा काम तो करो कि जिससे तुम्हारा भी नुक़सान न हो और दूसरों का भी भला हो जाय ॥ २६ ॥

पहिले अपने मनुष्य धर्म का पालन करो, फिर प्रजा धर्म का ॥ २७ ॥

फ़र्ज़ और कुछ नहीं, केवल कर्ज़ चुकाना है ॥२८॥

अपने कर्तव्य को दूसरों पर मिहरबानी मत बताओ, यह बड़ा भारी दुर्गुण है ॥ २९ ॥

आवश्यक कर्तव्य का अनिच्छापूर्वक पालन करने से परमेश्वर प्रसन्न नहीं होता है ॥ ३० ॥

यदि तुममें कार्य करने की ज़रा भी हिम्मत नहीं है तो फिर तुम्हीं बताओ तुम्हारी राय की क्या क़ीमत है ? ॥ ३१ ॥

कर्तव्य प्रेरणा नहीं चाहता । दान देना—किसी को सहायता देना—हमारा कर्तव्य है तो फिर हम क्यों यह राह देखते हैं कि कोई हम से कुछ आकर मांगे । हमें चाहिये कि हम असहायों को ढूंढते फिरें और जहां कहीं (गाम-परगाम) कोई असहाय मिल जाय दान दे डालें ॥ ३२ ॥

क्या तुम्हें अपने पापों का भान है ? यदि है तो तुम अवश्य उनके लिये पछताते होगे । यह पछताना तुम्हारे उन्नतिमार्ग में होने का प्रमाण है, परन्तु स्मरण रक्खो ! कोरे पछताते ही रहोगे तो तुम्हारा पाप-भान धीरे २ खिसक जायगा । अतएव पछताने के साथ २ संकल्प भी करते जाओ कि आगे हम पाप नहीं करेंगे ॥ ३३ ॥

हर रोज़ संध्या के समय अपने दैनिक कामों के दोष गुण का हिसाब करना सभी के लिये उचित है । वैसा करने से अपने दोषों के संशोधन का नित्य मौका मिलता है और किसी दोष की आदत बढ़ने नहीं पाती ॥ ३४ ॥

क्या कहा? मेरा एक भी शत्रु नहीं, यह कहते हो? मेरे प्यारे मित्र रहने दो! जिसने कर्तव्य मार्ग का आश्रय ग्रहण किया है और जो वीरों की तरह मार्ग को आक्रमणित करता जाता है, उसने शत्रु अवश्य बनाये होंगे। यदि तुम्हारा कोई शत्रु नहीं तो समझो अभी तुमने काम ही कुछ नहीं किया, अथवा काम का प्रथम पाठ पढ़ रहे हो ॥२५॥

जब तुमने किसी विश्वास घाती की कमर नहीं तोड़ी—किसी कुमार्गी को सुमार्गी नहीं बनाया तो कहो तुमने किया क्या? प्रत्युत तुमतो युद्ध में भीरु सिद्ध हुए हो! यदि बड़ा बनना चाहते हो तो भीरुता को छोड़कर वीरता का आश्रय लो! खुद अपने विश्वास पर शुद्ध भाव से कार्य करो, शत्रु अपनी मौत मर जायँगे और तुम्हारा नाम कल्प कल्पांत तक रहेगा ॥ २६ ॥

पद्य :—

(२७)

अन्यस्मात्त्वा दृशं स्वस्मै व्यवहार मपेक्ष से।
अन्यस्मैतादृशं कर्त्तुमुत्सहस्व त्वमप्यहो ॥

अर्थ—दूसरे से अपने लिये तुम जैसा व्यवहार चाहते हो, तुमको चाहिये कि तुम भी दूसरे के साथ वैसा व्यवहार करो।

(३८)

कर्तव्य करना चाहिये होगी न क्या प्रभु की दया।
सुख दुःख कुछ हो एकसा ही सब समय किसका गया॥

यह संसार काम करने के लिये है, काम करो। कायर लोग दूसरों के कष्ट भूल कर केवल अपने ही कष्ट से व्याकुल रहते हैं ॥ ३९ ॥

मुसीबतों का अनुभव करना ही मनुष्य का प्रकृत स्वभाव नहीं है, किन्तु कर्तव्य यह है कि योद्धाओं की तरह दुःख का सामना करो, दुःख को चेलेंज दो ॥ ४० ॥

प्रकृति के लिये नियम नियत करना तेरा काम नहीं किंतु उनकी पालना करना तेरा काम है। यदि इससे तुझे दुःख पहुँचता है तो उस पर शोक करना तेरे क्लेश को अधिक बढ़ावेगा। उदासी क्लेश का इलाज नहीं है। उदासी तेरे हृदय से तीर निकालने का बहाना करती है, परंतु वास्तव में तेरे हृदय में गहरा घाव करती है ॥ ४१ ॥

अपनी अन्तरात्मा को खुश करने की आवश्यकता है, किसी और व्यक्ति को नहीं; चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो ॥ ४२ ॥

पद्य: —

(४३)

जब तुम आये जगत में, जगत हंसा तुम रोय।
ऐसी करनी कर चलो, पीछे हंसी न होय ॥

जो मनुष्य वर्तमान से सार नहीं निचोड़ सकता वह भविष्यमें से क्या निचोड़ेगा । आगे करूंगा, यह वायदा ही तो मनुष्य को डुबोता है और जहां ऐसा मानने लगे कि फिर अधिकाधिक कमज़ोरी बढ़ती जाती है। जीवात्मा किसी एक अपूर्ण क्षण में ही लालसा से निवृत हो सकता है, और यदि उस का लाभ तुरंत ही नहीं लिया जाय तो वह ऐसा अवसर हाथ से निकल जाता है, जिस की उपमा सुवर्ण से दी जासकती है ॥४४॥

संसार में दुःख तुम्हें पकड़ने के लिये घूम रहा है, उसे धोखा दो—उससे बचो। और अगर वह आकर ऊपर गिर ही पड़े तो उसे हंसकर उड़ा दो। ॥४५॥

दुःख को हिंसक जन्तु की तरह समझकर उसे वश करो और उस से कामलो, नहीं तो वह तुम्हें मार डालेगा ॥ ४६ ॥

जगत के सभी सामान्य कार्य के योग्य यदि हम बन-जायें तो फिर दुःख हमारे पास ठहर ही नहीं सकते ॥४७॥

अपनी इच्छा से दुःख दरिद्रता स्वीकार करने में, अभिमान और आनंद होता है ॥४८॥

छोटा सा प्राथमिक दुःख स्वीकार कर लेने पर बड़े दुःख से बचाव हो जाता है ॥ ४९ ॥

दुःख निवृत्ति के जितने भी बाह्य उपाय हैं, वे सब दुःख का नाश नहीं कर सकते, केवल हमें ठगते हैं— थोड़ी देर के लिये दुःख से बे-भान कर देते हैं। दुःख की वास्तविक निवृत्ति एक मात्र साम्यभाव से ही हो सकती है ॥५०॥

संपति काल की जितनी सद्वस्तुएँ हैं, उनके मिलने की अभिलाषा रखनी चाहिये, परन्तु विपत्ति काल की जितनी सद्वस्तुएँ हैं, उनकी साश्चर्य प्रशन्सा करनी चाहिये ॥ ५१ ॥

उच्च विचार प्रायः मैले कुचैले तथा दरिद्र मनुष्यों के मस्तिष्क में ही वास करते हैं ॥ ५२ ॥

पद्य :—

(५३)

होती प्रकृति में भी विकृति, हा ! भाग्य हीनों के लिये ।

जो कुछ बाह्य जगत में रहने के लिये अत्यावश्यक है, उसी की लपेट में पड़े रहना मानव जीवन का धर्म नहीं है ॥५४॥

मनुष्य को अपने प्रति वज्र से भी अधिक कठोर होना चाहिये परन्तु औरों के प्रति नहीं ॥ ५५ ॥

जो भी हो, मनुष्य को मनुष्य की बुराई नहीं करनी चाहिये ॥ ५६ ॥

जिसके होने से मनुष्य मनुष्य है, जिसके न होने से मनुष्य मनुष्य नहीं है, वही मनुष्य का धर्म है। उसी का नाम है मनुष्यत्व । जिस अवस्था में मनुष्य की सर्वांगीन पूर्णता हो जाती है, उसी अवस्था को मनुष्यत्व कहते हैं ॥ ५७ ॥

मानव वृत्ति का उत्कर्षण ही धर्म है ॥ ५८ ॥

पद्य :—

(५९)

नरत्वेपि पशूयंते मिथ्यात्व ग्रस्त चेतसः ।
पशुत्वेपि नरायंते सम्यक्त्व व्यक्त चेतना ॥

अर्थ—वह मनुष्य पशु के समान है जिसकी चेतना मिथ्या विचार आचारों से ग्रस्त है, परन्तु वह पशु मनुष्य के समान है जिसकी चेतना विचार आचार सम्यक्-युक्त है ।

यदि एक अपना फ़र्ज़ अदा न करे तो दूसरे को अपने फ़र्ज़ से न चूकना चाहिये ॥ ६० ॥

यह बात ठीक नहीं है कि भले बुरे सब तरह के गुणों का यथायोग्य विकाश मनुष्य की सर्वाङ्गीन पूर्णता के लिये आवश्यक है, परन्तु जब तक पृथ्वी के सभी लोग भले न होजायँगे (जब तक कुछ बुरे लोग रहेंगे) तब तक कोई पूर्ण रूप से भला नहीं हो सकेगा—तब तक बुरे के संसर्ग से भले को भी बुरा होना ही होगा ॥६१॥

पद्य :—

(६२)

माना है सिद्धान्त आपका अनुपम उत्तम ।
किन्तु समय की दशा देख फल दिखता मध्यम ॥

कभी २ जिस कर्म से प्रत्यक्ष फल मिले, वही करना पड़ता है ॥ ६३ ॥

हम अशक्त हैं यदि शक्ति होती तो यों करते, त्यों करते, इस प्रकार की बहाने बाज़ी मत करो । तुम्हें जो कुछ भी थोड़ी बहुत शक्ति प्राप्त है उसी का तुमसे हिसाब मांगा जा रहा है । तुम्हारे पास जो नहीं है, उसका हिसाब तुम से कौन पूछता है ? ॥ ६४ ॥

क्या तुमने अशुभ कृत्यों से निवृत्ति करली ? यदि करली तो साथ ही शुभ कृत्यों में प्रवृत्ति करदो । अन्यथा फिर अशुभ कृत्यों में प्रवृत्ति होजायगी । क्योंकि मनुष्य

शरीर और मन दीर्घकाल तक अकर्मी और स्थिर नहीं रह सकता ॥ ६५ ॥

जब मनुष्य इन्सान न बनकर हैवान बन जाता है तब ईश्वर उससे रूठ जाता है ॥ ६६ ॥

यह बात सच है कि खेती से सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा होती है, पर यह भी उतना ही सच है कि शरीर-निर्वाह में —श्वासोच्छ्वास करने में भी असीम सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा है। मनुष्य मिट्टी (पुद्गल) का पुतला है—मिट्टी से उस का शरीर पैदा हुआ है और मिट्टी की पर्यायों पर उस का जीवन निर्भर है। खेती में रहने वाले दोष से दूर रहने के लिये जो भिक्षान्न खाता है, वह दूहरा दोष का भागी होता है। खेती करने का दोष तो वह करता ही है, क्योंकि भिक्षा में मिला अन्न किसी न किसी किसान की मिहनत से ही पैदा हुआ है अतः उस किसान की खेती में, भिक्षान्न भोजन करने वाले का हिस्सा अवश्य आजाता है। और दूसरा दोष है—भिक्षान्न खाने वाले का अज्ञान और उससे उत्पन्न होने वाला आलस्य।

कार्य मात्र, प्रवृत्ति मात्र, उद्योगमात्र, सदोष हैं ॥ ६७ ॥

उन्नति

अपना सर्वस्व स्वरक्षित रखकर कालानुरूप अपेक्षित अन्य वस्तुओं या अवस्था को प्राप्त करने का नाम उन्नति है ॥ १ ॥

जो काम करना हो उसका आरम्भ सोच समझ कर करना चाहिए, यही सब से बढ़ कर बुद्धिमानी की बात है। होने वाले विघ्नों का पूरा २ विचार करना उचित है। यह कदापि न समझना चाहिये कि क्षुद्र विघ्नों से हमारा क्या बिगड़ेगा जो विघ्न देखने में स्वल्प जान पड़ते हैं वे कभी २ अपरिहार्य हो जाते हैं और हमें हार माननी पड़ती है ॥ २ ॥

हम गिर गये हैं, यह हमारे लिये लज्जा का विषय नहीं, हां गिर कर अधीर हो पड़े रहना लज्जा का विषय अवश्य है। न गिरने वाले से गिर कर उठने वाला श्रेष्ठ है; क्योंकि वह खाइयों को पहिचान चुका है ॥३॥

हमारा पिछला जीवन बुरा है, यह हमारे भय का कारण नहीं, यदि हम अगले जीवन को सुधार सकें ॥ ४ ॥

विघ्नों का पूरा पूरा विचार करलो, किन्तु उनके निकट आने की प्रतीक्षा मत करो। क्योंकि एक तो

जितनी विपत्तियों का तुम डर करते हो उनमें की आधी भी नहीं आतीं और दूसरे अधिक काल पर्यन्त निरीक्षण करते रहने से उन्नीस विश्वे निद्रा आजाती है ॥ ५ ॥

जिस वस्तु को पाने योग्य तुम नहीं हुए हो उसे न चाहो। अर्थात् पहिले अधिकारी बनो। अरे अधिकार तो स्वयं तुम्हारे पास चला आवेगा ॥ ६ ॥

हम उन्नति जहाज के पाल में फूंक भरते हैं सही. परन्तु फूंक भरने में जितने हमारे गाल फूलते हैं उतना पाल नहीं फूलता ॥ ७ ॥

हमारी जाति के द्वार अत्यन्त क्षुद्र होगये हैं। मनुष्य-त्व के बड़े गुण अब उसमें कैसे प्रवेश कर सकते हैं। आजकल केवल वाष्पमय भाषा की तरङ्गें ही हमारे साहित्य में तूफ़ान पैदा कर रही हैं ॥ ८ ॥

यदि यथार्थ में हम पानी में गिर कर बहे जाते है तो हमें पैरों के बल चलना छोड़ कर तैरने के प्रयत्न करने की चेष्टा करनी चाहिये। अन्यथा हमारी मौत अनिवार्य है ॥ ९ ॥

हम परिवर्तन के बीच रहते हैं अतएव हमें स्थिर लक्ष की तरफ़ अधिक ध्यान रखना आवश्यक है। घोड़ा स्वाधीन नहीं सवार स्वाधीन है ॥ १० ॥

सब ओर से बचाए रखना मनुष्य के लिये दुःसाध्य है। अतएव छोटे २ अन्शों को छोड़ कर निर्भयता से आगे बढ़े चलो। हाँ देख कर चलने में कभी भूल न करो। इतने पर भी यदि ठोकर लग ही जाय तो कोई चिंता नहीं, एक ठोकर ही दूसरी ठोकर से बचाने का उपाय है ॥ ११ ॥

हमारी अक्ल केवल नियम बनाने और वक्तृता देने में खर्च होती है, यह तरीका ठीक नहीं है। इस तरीके से हम उन्नति का मार्ग तय नहीं कर सकेंगे ॥ १२ ॥

भूल चूक, हानि, कष्ट आदि के बीच होकर ही मनुष्य पूर्णता के मार्ग में आगे बढ़ता है ॥ १३ ॥

जिस जाति की भूख कम है, उसका जीना मरना समान है। जिस उन्नति की नींव पाक यन्त्र के ऊपर स्थापित नहीं वह उन्नति कितने दिन ठहरेगी। जो जाति खाती है पर पचा नहीं सकती, उसकी सङ्गति असंभव है ॥ १४ ॥

जीवन के बहुत से अंशों को छोड़ कर, भूलकर तथा नष्ट कर हम लोगों को आगे बढ़ना पड़ता है। प्रत्येक बात, प्रत्येक घटना और प्रत्येक भाव को जो पकड़ कर रखना चाहता है वह महा अभागी है ॥ १५ ॥

उन्नति का अर्थ यह है कि जो आवश्यक है, उसी का गृहण किया जाय और अनावश्यक का त्याग ॥ १६ ॥

जेठे लड़के और पुरानी जाति की उन्नति होना कठिन है, क्योंकि उन का मन विनयी नहीं होता ॥१७॥

जो हानि लाभ का विचार रखता है, वह अवश्य ही बड़ा भारी व्यवहार-निपुण है, संसार में इसी प्रकार के मनुष्यों की उन्नति होती है ॥ १८ ॥

नियम पूर्वक काम करो, परंतु नियम विवेक पूर्वक बनाओ। अन्यथा परिणाम यह होगा कि तुम नियम के लिये बन जाओगे ॥ १९ ॥

जड़ विज्ञान को हेय मत समझो। नाईट्रोजन को छोड़कर केवल आक्सीजन के आधार पर हमारा जीवन स्थिर नहीं रह सकता है ॥ २० ॥

जिस तरह किसी बात को झूठ या सच होने के साबित करने की ज़रूरत है, उसी तरह उस के उपयोगी या अनुपयोगी होने के साबित करने की भी ज़रूरत है ॥ २१ ॥

उच्च आदर्श, महत् भाव, महत्‌उद्देश्य, इन को हम । के समान व्यर्थ समझते हैं, पर हमें यह नहीं मालूम

कि—उन्नति के बड़े २ जहाज़ इसी भाफ के बल से चलते हैं ॥ २२ ॥

यदि अधिक की प्राप्ति चाहते हो तो जो कुछ तुम्हारे पास है उस का उत्तमोत्तम उपयोग करो ॥ २३ ॥

जो चाल पग २ पर थमने के द्वारा नियमित नहीं, उसको उन्नति नहीं कह सकते । जिस छन्द में विश्राम नहीं, क्या उसे छन्द कह सकते हैं ॥ २४ ॥

प्रगति बाहर से नहीं आती, अन्दर से ही उत्पन्न होती है ॥ २५ ॥

अपनी बुराई सुन कर भड़क उठना उन्नति में बाधक है ॥ २६ ॥

उन्नति एक ओर झुकने में नहीं, चारों ओर फैलने में होती है ॥ २७ ॥

हमें कट्टर न बनना चाहिये । कट्टर मनुष्य में सहानुभूति और प्रेम का अभाव होता है । कट्टर मनुष्य की उन्नति नहीं होती ॥ २८ ॥

जिस समय चारों ओर के समाज अवनत होते हैं, उस समय उस के बीच का कोई विशेष समाज अपने को उन्नत नहीं रख सकता ॥ २९ ॥

भय मत करो कि—उन्नति के मार्ग में बड़ी बड़ी खाइयां हैं। ज़रा सोचो कि—घर में बैठे रहने से तो एक केवल अप्राप्ति ही निश्चित है, परंतु खाइयाँ लांघने में यह दोष तो नहीं है ॥ ३० ॥

राज कारण और समाज व्यवस्था ये दोनों हाथ में हाथ डालकर एक साथ मित्र की तरह चलें तो उन्नति हाथ जोड़े सामने चली आती है ॥ ३१ ॥

प्रगति लंगड़ी है, वह कुदकते हुए ही आ सकती है ॥ ३२ ॥

सब के साथ चलो, ठहरो मत। तुम ठहरना चाहते हो, पर दूसरे ठहरना नहीं चाहते। ऐसी दशा में तुम ठहर जाओगे तो दूसरों से टकराओगे और मर मिटोगे। हां यदि तुम्हारा यह विश्वास हो कि साथी कुपथ में जारहे हैं तो अपना मार्ग अलग निर्माण करो और उस पर चलो। ठहरना ही मृत्यु है ॥ ३३ ॥

हमारी प्रगति में बाधक होने वाली सब से बड़ी वस्तु है—असहिष्णुता ॥ ३४ ॥

पद्य :—

(३५)

प्रगति में स्थिति नहीं है—वह गति किस काम की।

(३६)

जैसी अवस्था हो वहां–वैसी व्यवस्था चाहिये ।

(३७)

पीछे हुआ सो होगया अब–सामने देखो सभी ।

(३८)

जिस ओर गति हो समय की–उस ओर मति को फेर दो।

(३९)

है बदलता रहता समय उसकी सभी घातें नई,
कल काम में आती नहीं हैं आज की बातें कई ।
है सिद्धि मूल यही कि जब जैसा प्रकृति का रङ्ग हो,
तब ठीक वैसा ही हमारी कार्य कृति का ढङ्ग हो ॥

(४०)

निश्चेष्टता मानों हमारी नष्टता की दृष्टि है ।
होती प्रलय के पूर्व जैसे व्यस्त सारी सृष्टि है ॥

देश विदेश घूमो, खुराक मिलेगी । कहा भी है—
हिरे फिरे सो चरे, बंधा भूखो मरे ॥ ४१ ॥

जो हुआ है और जो है, उसी को चिरस्थायी रूप से बनाये रखने की संसार में एक भारी चेष्टा देखी जाती है, किन्तु प्रतिभा उन सब को नष्ट भ्रष्ट करके जो नहीं हैं, उसके लिये राह तैयार करती है ॥४२॥

कठिनाई को दबाना ही चाहिये। तुरन्त उसके साथ युद्ध छेड़ दो। सुगमता अभ्यास से आती है। बल और पराक्रम उन्हें बार २ काम में लाने पर आते है ॥ ४३ ॥

लाभ तो सब चाहते हैं पर हानि से डरते हैं। यही कारण है कि—लाभ भी उनसे डरता है ॥ ४४ ॥

बिना नियम रक्षा किए किसी प्रकार की उन्नति होना असंभव है ॥ ४५ ॥

अपने देश में बहुधा यह बात सुना करते हैं कि जो नित्य है, वही सत्य है। इससे हम यह समझने लगते हैं कि सत्य जीवन का नहीं किन्तु मृत्यु का चिन्ह है, परन्तु क्या हमारा यह विचार (समझ) ठीक है ? यदि ठीक होता—यदि संसार में एक भी स्थान ऐसा होता जहाँ कि सत्य का विकाश पूर्णता को प्राप्त होकर सदा के लिये रुक गया हो तो इस संसार में उन्हीं को सफलता मिलती जो अपने स्थान से हिलना तक पसन्द नहीं करते और सब प्रकार की उन्नति सृष्टि के आन्तरिक सिद्धांत के विरुद्ध होती तथा प्रत्येक प्रकार की गति अप रिवर्तन शीलता की मुर्दा दीवारों से टकराकर स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त होजाया करती ॥ ४६ ॥

जिन बातों से हृदय जागृत हो, मन में उद्यम और उत्साह का संचार हो, विश्व के साथ मिलकर काम करने के लिये अनिवार्य आवेग उत्पन्न हो, उन बातों तक से दूर रहने की जिन की मति हो समझलो कि उनकी मति नष्ट हो गई है ॥ ४७ ॥

शिक्षा । शिक्षक । अनुशीलन । अभ्यास

सब चित्त वृत्तियों की प्रकृत अवस्था, अपने २ कार्य में निपुणता और कर्तव्य कार्य में उत्साह, जिससे हो वही शिक्षा है ॥ १ ॥

मानसिक शिक्षा के माने केवल किसी खास विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही नहीं है । सभी विषयों में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति बढ़ाना ही उसका मूल लक्षण है ॥ २ ॥

निरवच्छिन्न (अखण्ड) सुख किसी को प्राप्त नहीं है दुःख का भाग सभी के हिस्से में आता है । ऐसी दशा में वही शिक्षा, शिक्षा कही जा सकती है कि जिसके द्वारा शरीर और मन का ऐसा गठन हो जाय कि दुःख का बोझा उठाने में कुछ भी कष्ट न हो ! ॥ ३ ॥

शिक्षा गले में, मस्तिष्क में, हाथ में रखने की चीज़ नहीं है। पचाकर उसके द्वारा मानसिक उन्नति करना ही उसका यथार्थ उपयोग है ॥ ४ ॥

जब एक सिद्धान्त से उपसिद्धान्त घटा लेने की शक्ति न हो तब तक कह सकते हैं कि सिद्धांतों का ज्ञान ही नहीं है और न ऐसे ज्ञान को शिक्षा ही कह सकते हैं ॥ ५ ॥

यह सच है कि—कठोरता सहने की और सुख दुख को समभाव से देखने की क्षमता, देह मन और आत्मा के चरम या परम उत्कर्ष लाभ का फल है और वही उत्कर्ष साधन शिक्षा का उद्देश्य है और यह भी सच है कि विद्यार्थी को सुखाभिलाषी होने देना उचित नहीं, किन्तु इसी कारण शिक्षा को सुखकर न बनाकर कठोर बनाने का ख्याल भी ठीक नहीं है ॥ ६ ॥

ज्ञान लाभ के लिये अपना यत्न और अन्य की सहायता, दोनों का प्रयोजन है। अन्य की सहायता को शिक्षा कहते हैं तथा अपने यत्न को अनुशीलन कहते हैं ॥ ७ ॥

जितनी शिक्षा हम अनुकूल मित्रों से ग्रहण करते हैं उससे अधिक शिक्षा हमें विरोधी मित्रों से मिल

सकती है, परन्तु शर्त यह है कि उनका मत सुनने समझने की सहिष्णुता हम में हो ॥ ८ ॥

सच्ची सार्वजनिक शिक्षा अक्षर ज्ञान में नहीं बल्कि शील और शारीरिक परिश्रम है ॥ ९ ॥

पद्य :—

(१०)

पढ़ना सभी है व्यर्थ उनका—जो कभी गुनते नहीं ।

बच्चों की शिक्षा को विश्व प्रकृति के उदार रमणीय अवकाश में से उन्मेषित करना ही विधाता का अभिप्राय है । इस अभिप्राय को जितना ही हम व्यर्थ करते जाते है, उतने ही हम व्यर्थ होते जाते है ॥ ११ ॥

शिक्षक को छात्र के मन में भक्ति का उद्रेक करना चाहिये । भय पैदा करना विधि विरुद्ध और अनिष्ट कर है । हवा से हिलरहे पत्ते पर स्पष्ट लिखने की चेष्टा और भय से काँप रहे छात्र के मन में स्थायी उपदेश अङ्कित करने की चेष्टा, दोनों समान हैं ॥ १२ ॥

आजकल के शिक्षित लोग पुस्तकों के मनुष्यों को तो पहिचानते हैं, पर पृथ्वी के मनुष्यों को नहीं । उन के लिये पुस्तकों के मनुष्य तो मनोहर हैं पर पृथ्वी के श्रांतिकर हैं । ये लोग सात समुद्र पार की बातें जानते

हैं, पर अड़ोसी पड़ोसी के घर का हाल नहीं जानते। ये महा युद्ध की रोमांचकारी घटनाओं को पढ़ते हैं, पर किसी भूखे कङ्गाल के साथ दारिद्र्य दैत्य से घोर युद्ध होने की हृदय द्रावी बातको सुनने से इनके सिर में दर्द हो उठता है। इन सब बातों से कहना पड़ता है कि—दुर्भाग्य-वश ये लोग पंडित तो हो गये हैं, पर सच्चे मनुष्यत्व को खो बैठे हैं ॥ १३ ॥

जो एक स्कूल खोलता है, मानो वह एक जेल-खाने को बंद करता है ॥ १४ ॥

शिक्षा लो, अन्यथा भिक्षा लेनी पड़ेगी ॥ १५ ॥

जगत को पुस्तक के द्वारा नहीं, किन्तु मन के द्वारा टटोलो। यदि मनुष्य होकर पुस्तक बनने की चेष्टा करोगे तो मनुष्यत्व का भाव नष्ट हो जायगा ॥१६॥

प्रकृति ने और मनुष्य ने भूतकाल पर जो आच्छा-दन का ढेर कर दिया है, उसे दूर कर भूतकाल को अपने साम्हने नङ्गे स्वरूप में खड़ा करना, उसके प्रत्येक अङ्गो-पाङ्ग की परीक्षा करना और तत्पश्चात् उसे काट कूट कर उसमें से भविष्य की मूर्त्ति निर्माण करना, इतिहास के अध्ययन की सार्थकता है ॥ १७ ॥

इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि विचार और कल्पना

यह दो शक्तियां जीवन यात्रा के लिये बहुत आवश्यक हैं। मनुष्यत्व प्राप्त करने के लिये इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। यदि बाल्यकाल से ही हम इनकी ओर लक्ष न देंगे तो यह काम पड़ने पर हमें तैयार न मिल सकेंगी ॥ १८ ॥

अच्छी बात को विफल और विरस कर डालने के सिवाय हानिकर कार्य मनुष्य समाज के लिये और दूसरा नहीं है। नित्युपदेश जैसी अच्छी बात बच्चों को बिना ज़रूरत और असमय देने का प्रयत्न करके विरस और विफल बना डाली जाती है ॥ १९ ॥

जो कुछ भी सुना हो या पढ़ा हो, उसे अच्छी तरह हज़म कर लिया जाय और उसके मुताबिक व्यवहार रक्खा जाय। ज़्यादह पढ़ने से संभव है कि—लाभ के बदले हानि भी हो ॥ २० ॥

शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों अङ्ग हमें संभालने चाहियें। इनमें से जो अङ्ग अधूरा रहेगा, वही बालक को भविष्य में दुःखदायी होगा और जब उसे इन त्रुटियों का ज्ञान होगा तब वह उसे बहुत अखरेगा ॥२१॥

अनुशीलन शक्ति के अनुकूल और अभ्यास शक्ति के प्रतिकूल है ॥ २२ ॥

अनुशीलन का फल शक्ति का विकाश है और अभ्यास का फल शक्ति का विकार है। अनुशीलन का परिणाम सुख और अभ्यास का परिणाम सहिष्णुता है॥२३॥

अनुशीलन का काल प्रायः बचपन है ॥ २४ ॥

क्यों विकाश के समय जीवन की परिणति और सरसता साधने के लिये सजीव भावों और कल्पनाओं की बड़ी ही ज़रूरत है ॥ २५ ॥

धारणा जब स्पष्ट और दुर्बल रहती है तब उद्भावना शक्ति की अर्थात् कोई नई बात प्रगट करने वाली प्रतिभा की आशा नहीं की जासकती। बल्कि उस समय की समस्त उद्भावनाएँ एक अवास्तविक और अद्भुत आकार धारण कर लेती हैं ॥ २६ ॥

धारणा शक्ति या स्मरण शक्ति तभी पक्की होती है जब हम जो कुछ ग्रहण करें या सीखें उसे साथ ही साथ प्रकाशित भी करते रहें। ॥ २७ ॥

न्याय युक्त दण्ड वही कहा जा सकता है जिसे विद्यार्थी स्वयं स्वीकार करले ॥ २८ ॥

लोक-शिक्षा का अर्थ अक्षर ज्ञान नहीं, बल्कि मूर्छा से लोगों की जागृति—लोगों को अपने निजके विषय का ज्ञान—होना है ॥ २९ ॥

मां बाप के लिये उचित है कि वे पहिले अपनी संतान को मानव संतान बनने दें, उन के साधारण मनुष्यत्व को पकने दें। उस के बाद उन्हें आवश्यकतानुसार धनी की संतान बनावें, किन्तु ऐसा होता नहीं है। लड़के सब प्रकार से मानव संतान बनने के पहिले ही धनी की संतान बन जाते हैं, इससे दुर्लभ मानव जन्म की बहुतसी बातें उन के भाग्य में बाद (कमी) पड़ जाती हैं, जीवन के अनेक रसास्वादों की क्षमता उन की नष्ट हो जाती है ॥ ३० ॥

श्रद्धा

देखना ही विश्वास करना है ॥ १ ॥

जो श्रद्धा प्रमाण पर निर्भर रहती है, वह दुर्लभ है ॥२॥

श्रद्धा जब आत्मा के अन्श रूप में प्रकट होती है तब वह ज्ञान कहलाती है और तभी वह आत्मा का आत्मत्व प्रकाशित करती है ॥ ३ ॥

विद्वत्ता हमें जीवन की अनेक अवस्थाओं से पार लेजाती है, पर संकट और प्रलोभन के समय वह हमारा साथ बिलकुल नहीं देती। उस हालत में अकेली श्रद्धा ही उबारती है ॥ ४ ॥

जो श्रद्धावान् होता है वह तो दूसरे की अश्रद्धा देख कर उलटा दुगुना दृढ़ होता है। जैसे स्वरक्षित मनुष्य, रक्षकों के चले जाने पर सावधान होजाता है ॥ ५ ॥

दिल उसी चीज़ की तरफ़ रुजु हो सकता है, जिसमें इन्सान का विश्वास हो ॥ ६ ॥

अनेक लोग अपने मत के विषय में सदैव ही वाद विवाद किया करते हैं, इससे जान पड़ता है कि उनको अपने मत की सत्यता का स्वयं ही पूर्ण निश्चय नहीं है। यही कारण है कि वे दूसरों की अनुमति ग्रहण करके उसे पुष्ट करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

अंध श्रद्धा से विचारक का काम नहीं बन सकता ॥ ८ ॥

क्रोध के आवेग से की हुई तपस्या पर श्रद्धा होती ही नहीं है ॥ ९ ॥

देखने में श्रद्धा निर्बल दिखाई देती है, पर विजय प्राप्त करने का पराक्रम श्रद्धा में ही है ॥ १० ॥

आचरण हीन श्रद्धा आत्महीन शरीर की तरह मुर्दा है, जो कि केवल जला डालने या दफ़न करने के लायक होता है ॥ ११ ॥

मन एक प्रकार का जल्द उठने वाला पदार्थ है। जहां उस पर प्रश्न की चिनगारी गिरती है, वहां सम्भव है कुछ भी न हो और वहां से दस हाथ दूर पर भभक उठे ॥ १२ ॥

जो समस्त विश्वासों के विषय में प्रश्न करते हैं, जो अनेक प्रकार के भावों की परख करते हैं, उनका मुख मण्डल बुद्धि के प्रकाश से अवश्य प्रकाशित रहता है। अनुसंधानपरता की निपुणता उनके मुख मंडल पर अवश्य प्रतिबिम्बित रहती है, परन्तु उसमें और भावों की गहरी, स्निग्ध सुन्दरता में बड़ा भेद रहता है ॥ १३ ॥

अनेक विषय ऐसे हैं जिन तक ज्ञान की पहुँच नहीं है मगर विश्वास उन तक पूर्ण रूप से पहुँचता है, अर्थात् ज्ञान के द्वारा हम जिसके स्वरूप का अनुमान तक नहीं कर सकते उसी पर विश्वास किए बिना नहीं रहा जाता ॥ १४ ॥

जो मनुष्य अपने पास श्रद्धा और दृढ़ निश्चय रखता है, उसे दुनिया में निराश होने का कोई कारण नहीं रहता ॥ १५ ॥

बिना विज्ञान प्राप्त किये आत्म-विश्वास नहीं होता ॥ १६ ॥

विना आत्म-विश्वास के सद्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

बुद्धिवाद की जगह अन्तर प्रेरणा स्फुरित होने—तुम्हारे सम्पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित होने—की ओर तुम्हारा लक्ष होना चाहिये ॥ १८ ॥

विश्वास से विश्वास पैदा होता है। संदेह एक सड़ी गली चीज़ है जिससे बदबू पैदा होती है। जिसने विश्वास किया है, उसने दुनियां में अबतक कुछ भी नहीं खोया है। परन्तु संदेह ग्रस्त मनुष्य, न अपने कामका रहता है न दुनियां के काम का। संशय को हिंसा का ही भाई बंद समझना चाहिये ॥ १९ ॥

अपनी बात स्वयं समझने के लिये बहुतसी इधर उधर की बातें कहनी पड़ती हैं। पर दूसरे लोग समझते हैं कि यह तत्वोपदेश करता है ॥ २० ॥

श्रद्धा के बिना हमारी कामनाओं का रुख़ एक ओर नहीं हो सकता, हमारी हार्दिक रुचियां चंचलता के झोकों से मुरझाई रहती हैं और हमारे विचार एक विशेष केन्द्र पर स्थित न होकर वे इतस्ततः के प्रभावों से हमारे लिये हितकर सामान नहीं चुन सकते। हमारी इस श्रद्धाहीन दशा से यदि तुलना की जाय तो, अन्धे

से अथवा गन्तव्य स्थान निश्चित न करने वाले पथिक से की जासकती है ॥ २१ ॥

जहां हेतु स्पष्ट हो वहां अविश्वास उत्पन्न नहीं होता ॥ २२ ॥

तत्व-ज्ञान

पद्य :—

(१)

देखा न और पदार्थ कोई प्राण से प्यारा कहीं ।
है वस्तु अप्रिय अन्य जगमें मृत्यु से बढ़ कर नहीं ॥

(२)

जहाँ के आइने से दिल का आइना है जुदा ।
उस आइने में हम आइनेगर को देखते हैं ॥

(३)

देख गर देखना है जौक़ कि वह परदा नशीं ।
दीदये रोज़न-ए दिल से है दिखाई देता ॥

विज्ञान, अज्ञान की व्याख्या का नाम है ॥ ४ ॥

कोई सिद्धांत, सिद्धांत नहीं है यदि वह सब तरह अच्छा न हो ॥ ५ ॥

नियम, इस ब्रह्मांड का शाषक है ॥ ६ ॥

वस्तु की उपयोगिता के न्यूनाधिक होने के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये चार कारण हैं ॥ ७ ॥

वही अधिक जानता है जो समझता है कि इस अनादि अनन्त विश्व में से मैं कुछ भी नहीं जानता। ८॥

अगर आचार का वृत्तांत हृदय पर अङ्कित होता, रहने की सुविधा होती तो दुनियां से अनर्थ की हस्ती उठ जाती ॥ ९ ॥

जब सारी ज़िम्मेदारी एक ही आदमी के सिर पर रखदी जाती है तब वह अपने आप कसौटी पर चढ़ जाता है और उसका स्वाभिमान या ईश्वर का डर उसे समचित्त बना देता है ॥ १० ॥

नाकामयाबी होने पर जो दोष कभी २ नहीं दिखाई देते वे कामयाबी होने पर दिखाई देने लगते हैं ॥ ११ ॥

अधिकार फेर फार के साथ वस्तु की व्याख्या भी बदलती चलती हैं ॥ १२ ॥

प्रकृति के द्वारा जो कुछ किया जाता है वह हमारे द्वारा किसी भी तरह नहीं हो सकता। इसलिये इस प्रकार हठ न करके कि—"मनुष्य की सारी भलाईयां केवल

हम बुद्धिमान लोग ही करेंगे"—हमें प्रकृति देवी के लिये भी थोड़ा सा मार्ग छोड़ देना उचित है ॥ १३ ॥

तत्व-ज्ञान को सस्ता बनाने से लाभ के मुक़ाबले में हानि ही अधिक दीखती है ॥ १४ ॥

किसी भी चीज़ को सुलभ कर देने से उसका मूल-गुण दूर हो जाता है और दुर्लभ कर देने से उस मूलगुण का विकाश होजाता है ॥ १५ ॥

मनुष्य स्वाधीन है, स्वतंत्र है, वह जड़ प्रकृति का अनुयायी नहीं है, परंतु इससे क्या—विशाल प्रकृति के साथ उसको बराबर विद्रोह करके ही चलना चाहिये ? ॥ १६ ॥

तमाम बातों में दोनों सिरे एक से होते हैं—आत्यंतिक भाव और आत्यन्तिक अभाव दोनों हमेशा एक से होते हैं। जब कि प्रकाश की लहरें बहुत मंद होती हैं तब हम उन्हें नहीं देख सकते और जब वे बहुत तेज़ होती हैं तब भी हम नहीं देख सकते। यही बात शब्द पर भी घटती है। इसी तरह प्रकृति प्रतिकार और अप्रतिकार का शेष फल है ॥ १७ ॥

तफ़सील की बातों में थोड़ा भी ध्यान छूट जाने से हर बात में तरक्क़ी को रुकावट पहुँचती है ॥ १८ ॥

संगठन एक यंत्र की तरह है । यंत्र में एक भी कील ढीली पड़ जाय तो सारा कारख़ाना ढीला हो जाता है ॥ १९ ॥

हम यह तो ज़रूर चाहते हैं कि मनुष्य के अन्दर से पशु भाव दूर होजाय, पर हम इसके लिये मनुष्य को पौरुष हीन कर देना नहीं चाहते ॥ २० ॥

मनुष्य को अपना वास्तविक स्थान प्राप्त करते हुए समय २ पर उसमें पशुभाव का भद्दे रूपमें प्रगट होना अवश्यम्भावी है ॥ २१ ॥

कौनसी बात श्रेय है और उस के लाभ का श्रेष्ठ उपाय क्या है, इस के निश्चय करने के लिये शास्त्रों का या तर्कों का अंत अबतक भी किसी देश में नहीं हुआ । यह शास्त्रार्थ कितनी ही वार रक्तपात में परिवर्तित हो चुका है और बार २ एक जगह विलुप्त और दूसरी जगह अंकुरित होता रहा है । मानव इतिहास इसका प्रमाण है ॥ २२ ॥

तार्किक विचार के विरुद्ध यदि कोई मत प्रकाशित भी करे तो उससे विशेष घबराने का कोई कारण नहीं रहता, परंतु भाव सम्बन्धी बातों के विषय में यदि कोई ; उपस्थित हो जाय तो मनुष्य से कुछ करते धरते

नहीं बनता—वह घबरा जाता है। क्योंकि भाव की बातें श्रोताओं की सहानुभूति पर ही अवलम्बित रहती हैं। भाव विषयक बातें यदि श्रोताओं को रुचिकर न हों, यदि वे कहदें कि- क्या उन्मत्तता करते हो, तो उस का उत्तर—किसी भी युक्ति शास्त्र में ढूंढने पर भी—नहीं मिलता ॥ २३ ॥

अधैर्य अथवा अज्ञान के कारण जब स्वाभाविक उपाय पर अश्रद्धा हो जाती है और कुछ असाधारण घटना घटित कर डालने की इच्छा अत्यंत प्रबल हो उठती है, उस समय धर्म बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ २४ ॥

पृथ्वी के हर एक मनुष्य के हृदय का कम से कम कुछ हिस्सा अन्य के निकट सदा अंधकारमय रहता है, इसी से पृथ्वी इतनी सुन्दर है। अगर एक दिन पृथ्वी पर के सब मनुष्यों का हृदय एक दम खुल जाय तो यह पृथ्वी बड़ी ही बीभत्स देख पड़े ॥ २५ ॥

जो लोग यह समझते हैं कि आदमी कुछ न कुछ काम करके ही दूसरों को हानि पहुंचा सकता है, तटस्थ रहकर नहीं, वे भूलते हैं। दोनों तरह से हानि पहुंच सकती है। मारने वाला और डूबते को देखकर न बचाने वाला दोनों हानि-कारक हैं। हां न्यूनाधिक सज़ा के पात्र

अवश्य हैं। दोनों में एक मनुष्यत्व का नाशक है दूसरा महत्व का नाशक है ॥ २६ ॥

महत्व और मनुष्यत्व एक नहीं है। खड़े होकर अपनी माता का अपमान देखना महत्व का अभाव नहीं बल्कि मनुष्यत्व का अभाव प्रकट करता है ॥ २७ ॥

हम सजीव मूर्ति हैं—चेतन-रूप हैं। चेतन का स्वभाव है यह समझ लेना कि कौन वस्तु ग्राह्य है और कौन त्याज्य। यदि हमें यह विद्या—ज्ञान—न हो तो हम एक यंत्र हैं ॥ २८ ॥

जिसे मूल तत्व—घटना के घाट (भेद)—का ज्ञान है उसे किसी भी घटना में आश्चर्य नहीं होता है। जहां पर आश्चर्य नहीं है वहां मानसिक अशान्ति भी नहीं है ॥ २६ ॥

हमारी शक्ति और सम्पत्ति की तादाद बराबर होनी चाहिये। शक्ति की अपेक्षा सम्पत्ति बढ़जाने से दूसरे लोग हमारी सम्पत्ति पर बुरी निगाह डालते हैं और शक्ति की अपेक्षा सम्पत्ति कम हो जाय तो दूसरों की सम्पत्ति को हम बुरी नज़र से देखने लगते हैं ॥ ३० ॥

ज्ञान मात्र शक्ति की भावना को और शक्ति को पुष्ट के लिये ही दरकार है ॥ ३१ ॥

त्यागे हुए विषय की शक्ति अनुकूल निमित्त पाकर सहस्र गुणे अधिक बल से सताती है और अन्त में निर्बल आत्मा को मूल स्थिति में घसीट ले आती है ॥ ३२ ॥

महत्ता और गुरुता साथ ही साथ चलती है ॥३३॥

जगत का चरम या परम आदर्श होना है करना नहीं, प्रकृति में कर्म की सीमा नहीं है। वह कर्म को आड़ में रख कर अपने को होने के रूप में प्रकट करती है ॥ ३४ ॥

अगर ईश्वर मनुष्य को भविष्य देखने देता तो दुनियां इतने दिन तक नहीं टिकती ॥ ३५ ॥

मुँह की बात केवल बात ही नहीं है, वह मुंह की बात है ॥ ३६ ॥

जिस मनुष्य को अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं आता, उसकी मित्रता और द्वेष दोनों बराबर हैं ॥३७॥

जिस मनुष्य को अन्याय पर क्रोध आता है और जो अपमान को सह नहीं सकता, वही पुरुष कहलाता है, नहीं तो वह नपुन्सक के समान है ॥ ३८ ॥

दो परस्पर विरुद्ध शक्तियां साथ २ काम चाहे कर सकें, परन्तु वे दोनों एक ही दिशा में काम नहीं कर सकतीं ॥ ३९ ॥

जो परिचित हैं उसको सम्पूर्ण रूप से—यथार्थ भाव से—आयत्त करना सीखने से ही जो अप्रत्यक्ष और अपरिचित है उसको ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न होती है ॥ ४० ॥

प्रकृति किसी आकस्मिक परिवर्तन या रद्दोबदल को सहन नहीं कर सकती है ॥ ४१ ॥

निर्माण होने की अवस्था में गुप्त रहने की आवश्यकता होती है ॥ ४२ ॥

जिस बात में मनुष्य की दुर्बलता होती है, उसी पर उसका स्नेह भी अधिक होता है ॥ ४३ ॥

प्रकृति अत्याचारी नहीं है, किंतु अध्यापिका है । हम भूल करते हैं, मनुष्य-स्वभाव को त्याग देते हैं, पशुओं का सा आचरण करने लगते हैं, तब वह हमें दण्ड देती है । दण्ड से यदि हम सुधर गये तो ठीक अन्यथा वह अशुद्ध अक्षर की तरह हमारा नाम संसार से उठा देती है ॥ ४४ ॥

गढ़ने या जोड़ने की प्रवृत्ति जिस में सजीव रूप से विद्यमान है, भंग करने की प्रवृत्ति का आघात उस के जीवन-धर्म को ही—उस की सृजनी शक्ति को ही—सचेष्ट और सचेतन करता है ॥ ४५ ॥

जो व्यक्ति वृत्तांत को बिलकुल अलग छोड़ कर केवल कल्पना की सहायता से सिद्धांत स्थिर करने की चेष्टा करता है, वह अपने आपको ही धोखा देता है ॥ ४६ ॥

चिर अभ्यास के कारण स्वयं भोक्ता भी अपने रोग को समझने के अयोग्य होजाता है ॥४७॥

ज्यों २ बंधन हमारे आंतरिक बल के साथ २ एक के बाद एक टूटते हैं त्यों २ हमारा ज़ोर बढ़ता है। परंतु बंधे हुए मनुष्य को कोई एकाएक छोड़ दे तो बंधन टूटते ही वह अपंग की तरह दिखाई देता है और वह अपंग होता भी है ॥ ४८ ॥

हम किसी ऐसे काल की कल्पना नहीं कर सकते जब हमारा चित्त तत्काल और स्वतः यह प्रश्न न करेगा कि इसके पहिले क्या था या उसके उपरान्त क्या होगा ॥ ४६ ॥

एकान्त वादी मत बनो। अनेकान्त वाद अनिश्चय वाद नहीं है किन्तु वह हमारे सामने एकीकरण का दृष्टि-विन्दु उपस्थित करता है ॥ ५० ॥

जो महत नहीं है वह महत को पहिचानता भी नहीं है, यह कहना सरासर ग़लत है ॥ ५१ ॥

किसी मनुष्य का चरित जानने के लिये उसका विशेष जीवन नहीं साधारण जीवन—दैनिक जीवन—देखना चाहिये ॥ ५२ ॥

मनुष्य की दृष्टि उसके हृदय का प्रतिविम्ब है ॥५३॥

सृष्टि में नाश से, उत्पत्ति और रक्षा की प्रबलता अधिक दिखाई देती है ॥ ५४ ॥

सर्वोच्चमता जहां कहीं होती है, कार्य के रूप में होती है। कारण के रूप में नहीं ॥ ५५ ॥

इल्म में इस वक्त भी वह शान है कि वह मगरूर दौलत के सिर पर लात मार देता है ॥ ५६ ॥

स्वार्पणमय हृदय की खटक वास्तव में खटक नहीं है, परंतु भव्यजीव के अपूर्व अदृष्ट विशेष के प्रकंप की प्रतिध्वनि है ॥ ५७ ॥

मनुष्य का सुख दुःख अनेकानेक सूक्ष्म वस्तुओं पर निर्भर करता है एकाएक करके उन सब का अन्वेषण करना असम्भव कार्य है। विशेषतः इस कारण कि—जो काल चला जाता है वह अपना सबूत और शहादतें भी अपने साथ ही लिए जाता है ॥ ५८ ॥

बहुशः विशृंखल और विछिन्न—सत्य जिस समय स्तूपाकार होकर ज्ञान का रास्ता रोकने लगते हैं उस

समय विज्ञान का पहला काम होता है—उनको गुण कर्म के अनुसार श्रेणीवद्ध कर देना। किन्तु श्रेणीवद्ध करना आरम्भ का कार्य है। कलेवर वद्ध करना ही अन्तिम कार्य है। समाज में भी यही बात लागू पड़ती है ॥ ५९ ॥

जो वस्तु स्वभाव से मधुर नहीं है, वह शीघ्र ही मन में आलस्य ले आती है। उसमें अधिक देर तक मनोनिवेश नहीं रह सकता। शीघ्र ही उसके सीमा के पार पहुँच कर उससे मन ऊब जाता है और कहता है—बस वहुत हुआ अब रहने दो ॥ ६० ॥

भीतर से बँध गये हो तो वाहरी वंधन छोड़ दो ॥ ६१ ॥

कांटे से कांटा निकाल कर दोनों फेंक देने के हैं। इस बात को भौतिक रूप से तो सब जानते हैं पर आध्यात्मिक रूप से भी इसे जानना चाहिये ॥ ६२ ॥

अशुभता से पिंड छुड़ाने के लिये शुभता को उसी तरह अपनाना पड़ता है जिस तरह कांटा निकालने के लिये कांटे को। पर दोनों त्याज्य हैं ॥ ६३ ॥

त्याग । संयम । वैराग्य

जिसे आत्म-संयम कहते हैं, वह अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं है। वल्कि कर्तव्य पालन के लिये हैं, जिस

में कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध न जाना पड़े, असत् इच्छा और प्रवृति का दमन कष्टकर न हो, उस अवस्था की प्राप्ति ही संयम शिक्षा का उद्देश्य है। न समझ कर, पराई इच्छा और आज्ञा के अनुसार काम करना, आत्म-संयम नहीं है। समझ कर अपनी इच्छा से अपनी प्रवृत्ति को दबाने का नाम ही आत्म-संयम है ॥ १ ॥

प्रवृत्ति का गुण यह है कि—वह मूल में अच्छे उद्देश्य के साथ हमें हितकर कार्य में प्रबल भाव से प्रेरित करती है और दोष यह है कि—वह सहज ही न्याय की सीमा को लांघ जाती है और मूल उद्देश्य अच्छा रहने पर भी अन्त में कुमार्ग में ले जाती है ॥ २ ॥

प्रवृत्ति सहज ही इतनी प्रबल है कि प्रवृत्ति के अनुसार काम करने के लिये किसी से भी कहने की ज़रूरत नहीं होती। प्रवृत्ति को संयत करने और निवृत्ति मार्ग में ले जाने के लिये ही शिक्षा और उपदेश आवश्यक है ॥ ३ ॥

स्वार्थ-परता का संयम सच्ची स्वार्थ-परता की प्राप्ति का उपाय है ॥ ४ ॥

स्वार्थ-परता मनुष्य की एक स्वभाव सिद्ध प्रवृत्ति है। त्म-रक्षा के लिये उस का प्रयोजन है। लेकिन संयत

न होने से उस से आत्म-रक्षा न होकर उल्टा ही फल होता है। जिस स्वार्थ के लिये लोग अधिक उद्विग्न होते हैं, उस का अन्याय रूप से पीछा करने में उसी स्वार्थ की हानि होती है॥ ५॥

संयम भद्रता का एक प्रधान लक्षण है। सज्जन मनुष्य अधिक अलंकार आदि की दिखाऊ अप्रधानता से अपनी उद्दंडता नहीं दिखाते, किंतु विनय और संयम के द्वारा वे अपनी मर्यादा स्थिर रखते हैं॥ ६॥

संसार के इतिहास में जितने महान कार्य हुए हैं, वे आत्म संयमी धार्मिक तथा ईश्वर से डरने वाले मनुष्यों के द्वारा ही हुए हैं॥ ७॥

स्वाधीन बन्धन से संयम उत्पन्न होता है और संयम से मुक्ति मिलती है॥ ८॥

वासना या प्रवृत्ति को छोटा करना ही आत्मा को बड़ा करना है। संतोष का अनुभव करने के लिये वासना को दबाते हैं॥ ९॥

जहाँ लुब्ध इंद्रियां जमा होकर भीड़ नहीं करतीं, वहीं मन को नई सृष्टी करने का अवसर मिलता है॥१०॥

संयम मनुष्य को सुशोभित करता है, और स्वतंत्र बनाता है॥ ११॥

जिस मार्ग पर चलने से सारे अभावों की पूर्त्ति हो जाती है, अर्थात् अभाव का अभाव रूपमें बोध नहीं होता है, वही निवृत्ति-मुख मार्ग प्रेय (प्रिय) न होने पर भी श्रेय (कल्याणकारी) है। उसी मार्ग पर जो चलते हैं, वे वास्तव में स्वयं भी सुखी होते हैं और अपने उज्ज्वल दृष्टांत द्वारा औरों के दुःखों का भार भी—सर्वथा नहीं तो बहुत कुछ—हल्का कर देते हैं ॥ १२ ॥

सदा इन्द्रिय निग्रह का यत्न करो। जो मनुष्य इन्द्रियों का दास रहता है, उसकी दशा बहुत मंद होती है। उसके हृदय में वह शांति नहीं रहती, जो दीर्घ जीवन के लिये आवश्यक है। वह मृत्यु से डरता रहता है और उसका शीघ्रतर नष्ट होजाना निःसंदेह है ॥ १३ ॥

जिसने स्वाद को नहीं जीता, वह विषय को नहीं जीत सकता। स्वाद को जीतना कठिन है, परन्तु इस विजय के साथ ही दूसरी विजय की भी सम्भावना है ॥ १४ ॥

वैधव्य कोई धर्म नहीं, धर्म तो संयम है। बल प्रयोग और संयम यह दोनों विरुद्ध हैं। एक के बदौलत मनुष्य की अधोगति होती है और दूसरे से उन्नति ॥ १५ ॥

त्याग के साथ कर्तव्य का भी भान होना चाहिये, तभी जीवन संतोष पूर्ण हो सकता है। अर्थात् अपनी सब प्रवृत्तियां विवेक दृष्टि से ही होनी चाहियें ॥ १६ ॥

इस युग में थोड़ी भक्ति और थोड़ा संयम भी फली-भूत हो जाता है ॥ १७ ॥

जिस वैराग्य में कोई महान और क्रियाशील साधन नहीं है, वह वैराग्य, वैराग्य नहीं, वह तो असभ्यता का नामांतर है ॥ १८ ॥

विना वैराग्य के संसार का कोई भी बड़ा काम नहीं हो सकता। जिस प्रकार प्रकाश और छाया का सम्बन्ध है, उसी प्रकार वैराग्य भी कर्म के साथ मिला हुआ है। जिसमें वैराग्य जिस परिमाण में वर्तमान है, उसी के अनुसार वह संसार में काम भी करता है ॥ १९ ॥

त्याग को बड़ा स्वरूप देने की आवश्यकता नहीं होती। स्वाभाविक त्याग, प्रवेश करने के पहिले बाजे नहीं बजाता। वह अदृश्य रूप से आता है, किसी को ख़बर तक नहीं पड़ने देता। वह त्याग शोभित होता है और क़ायम रहता है। वह त्याग किसी को भार भूत नहीं होता और न संक्रामक साबित होता है ॥ २० ॥

पद्य :—

(२१)

प्राप्त करो फिर त्याग करो,
सच त्याग तो यार इसे ही कहे हैं।

जो त्याग, सूखी तपस्या, शास्त्र विचार, या धर्म प्रचार में ही सीमाबद्ध है, वह सच्चा त्याग नहीं। किंतु जो त्याग कर्म के मार्ग में से होकर जगत के हित के लिये फैला हुआ है, वही सच्चा त्याग है॥ २२॥

सन्यासी (विरक्त दुनियां में रहता है, पर दुनियांदार नहीं होता। जीवन के महत्वपूर्ण कार्यों में उस का आचरण साधारण मनुष्यों के जैसा होता है, सिर्फ़ उस की दृष्टि जुदी होती है। हम जिन बातों को राग के साथ करते हैं, उन्हें वह विराग के साथ करता है॥ २३॥

जो शख़्स शारीरिक पाप चाहे न करता हो, पर मानसिक पाप ही करता हो, वह ब्रह्मचारी नहीं। जो व्यक्ति परम रूपवती रमणी को देखकर अविचल नहीं रह सकता वह ब्रह्मचारी नहीं। जो केवल आवश्यकता के वशीभूत होकर अपने शरीर को अपने वश में रखता है, वह करता तो अच्छी बात है, पर वह ब्रह्मचारी नहीं है॥ २४॥

दुःख और तप में बड़ा भारी अन्तर है। दुःख में होती है वेदना और तप में होता है आत्म-संतोष। दुःख सहना पड़ता है अनिच्छा से और इसलिये दुःख में यंत्रणा का बोध हो जाता है, किन्तु तप किया जाता है—स्वेच्छा से और इसलिये उसमें संतोष की अनुभूति होती है ॥ २५ ॥

यह—अपवाद रहित—नियम है कि—जो स्वयं अपने त्याग का उल्लेख करता है उसके त्याग का उल्लेख दुनियां नहीं करती। जिस त्याग का उल्लेख त्याग करने वाले को स्वयं ही करना पड़ता है, वह त्याग नहीं। आत्म-त्याग स्वयं प्रकाश्य होता है ॥ २६ ॥

पूर्ण अहिंसा वादी का धर्म है—इतना त्याग कर देना कि—फिर कुछ त्यागना बाकी न रहे ॥ २७ ॥

ज़रूरत न दीख पड़ने पर भी जो त्याग करता है, वही सच्चा त्यागी है ॥ २८ ॥

पुण्य की खामी के विचार में से उत्पन्न हुई भावना भले ही वह शुद्ध हो, कभी स्थायी नहीं रह सकेगी। खामी की पूर्ति होजाने पर फिर पलट जावेगी ॥ २९ ॥

भोग लालसा का त्याग जीवात्मा एक ही क्षण में नहीं साध सकता है उसको बड़े धैर्य से अपने राग द्वेष

का शोधन करने के पीछे अनुकूल पड़ता मार्ग स्वीकार करना चाहिये ॥ ३० ॥

त्याग ही सदाचार का मूल है। बिना त्याग के यदि सदाचार हुआ भी तो कभी २ वह अत्याचार के रूप में परिणत होजाता है ॥ ३१ ॥

त्याग के द्वारा ही बल का परिचय मिलता है ॥ ३२ ॥

दूसरों की भलाई की चेष्टा में अपने आपको भूल जाना—दूसरों में ही अपने को देखना—सच्चा त्याग है ॥ ३३ ॥

संयम और त्याग में अन्तर है। संयम त्याग की तैयारी के लिये है ॥ ३४ ॥

यथार्थ त्याग बिना वैराग्य के नहीं टिकता ॥३५॥

संसार की जो जातियां कर्म निपुण हैं, वेही यथार्थ में वैराग्य की महिमा भी जानती हैं। ज्ञान लाभ के लिये जो मेरु प्रदेश की हिम शीतल मृत्यु शाला के तुषार-रुद्ध द्वारपर वार २ आघात करते हैं, जो धर्म प्रचार करने के लिये नरमान्स भक्षी राक्षसों के देश में निर्भय होकर चले जाते हैं, जो मातृ भूमि की पुकार सुनकर बड़ी शीघ्रता से धन, जन, मोह, ममता, आदि को अनायास

छोड़कर अनेक कष्ट उठाने के लिये तथा मृत्यु के मुँह में कूद पड़ने के लिये तैयार होजाते हैं, वेही जानते हैं कि वैराग्य का अर्थ क्या है। वैराग्य का अर्थ जानने का अधिकार भी उन्हीं को है? हम लोग कर्म हीन, श्रीहीन, निश्चेष्ट और निर्जीव हो गये हैं। वैराग्य शब्द का अर्थ भला हम क्या समझ सकेंगे? हमारा वैराग्य अधःपतित जाति की मूर्छा है—जड़ता है, इसके लिये हमको अहंकार न होना चाहिये॥ ३६॥

बाधा हीन कर्तृत्व में चारित्र का असंयम जब बुद्धि को अन्धा कर देता है, उस समय क्या—वह बुद्धि दरिद्र की ही हानि करेगी? दुर्बल को ही दुःख देगी? धनी और सबल को हानि और पीड़ा नहीं पहुंचावेगी?॥ ३७॥

इंद्रियों का मालिक मन है, और मन का मालिक ब्रह्मचारी है। समस्त इंद्रियों का संयम यही तो ब्रह्मचर्य है॥ ३८॥

ब्रह्मचारी होने का अर्थ है, स्त्री का स्पर्श करने से भी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो। विकार से दूर भागना निर्विकारी होने का सबूत नहीं है॥ ३९॥

पद्य :—

(५०)

बड़े मू ज़ी को मारा नफ़्स अम्मारे को गर मारा ।
नहंगो अज़दहाओ शेर नर मारा तो क्या मारा ॥
न मारा आपको जो ख़ाक हो अक्सीर बन जाता ।
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा ॥

अनुचित वृद्धि रोकने को दमन कहते हैं ॥ ४१ ॥

नग्नता या नङ्गेपन में एक बड़ी भारी खूबी यह है कि उसमें प्रतियोगिता या बदाबदी नहीं है, परंतु कपड़ों आदि में यह बात नहीं है। उनसे इच्छाओं की मात्रायें और आडम्बरों के आयोजन तिल २ करके बढ़ते ही चले जाते हैं ॥ ४२ ॥

मनुष्य केवल देहधारी ही नहीं है। मनुष्य के मन और आत्मा भी है, जो कि शरीर की अपेक्षा अधिक मूल्यवान और अधिक प्रबल है—देह रक्षा के लिये कई एक अभाव (कमी) अवश्य पूरणीय है, किन्तु मन और आत्मा के ऊपर देह की प्रभुता की अपेक्षा देह के ऊपर मन का और आत्मा का अधिकार अधिकतर वांछनीय है। देह का कुछ कष्ट स्वीकार करने से अगर मन और आत्मा की उन्नति होती हो तो उस कष्ट को कष्ट ही नहीं समझना

चाहिये । देह का कष्ट स्वीकार करके बुद्धि के द्वारा प्रवृत्ति का शासन करना और आगे होने वाले अधिक सुख के लिये वर्तमान अल्प सुख के लोभ को दबाना, ये ही दो गुण ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य जाति पशुओं से श्रेष्ठ समझी जाती है और उसकी उत्तरोत्तर क्रमोन्नति हुई है । पशु भूख लगने पर अपने पराये का विचार नहीं करके जो सामने आता है वही खाजाता है । असभ्य मनुष्य भी प्रयोजन होने पर अपने पराये का विचार न करके जिस प्रयोजनीय वस्तु को निकट पाता है उसी को ले लेता है, किन्तु सभ्य मनुष्य हज़ार प्रयोजन होने पर भी परस्वत्व के अपहरण से पराङ्मुख रहता है, अर्थात् पराई चीज़ को नहीं छूता ॥४३॥

संसार कठोर कर्म क्षेत्र है । यहां विलास-प्रिय बनने से कर्तव्य पालने में विघ्न पड़ता है और जिस सुख के लिये विलास-लालसा की जाती है वह भी नहीं मिलता । समय २ पर आल्हाद आमोद करने के लिये निषेध नहीं है, परन्तु आल्हाद आमोद करना और विलास प्रिय होना एक ही बात नहीं है ॥ ४४ ॥

आनन्द लाभ के लिये ही लोग विलास की खोज करते हैं, किन्तु उससे यथार्थ आनंद नहीं होता । कारण

एक तो विलास की चीज़ें लाने में या जमा करने में कष्ट उठाना पड़ता है—खर्च करना पड़ता है। दूसरे, उन चीज़ों को जमा कर लेने पर भी उनसे तृप्ति नहीं होती। दिन २ नई नई भोग-वासना उत्पन्न होती है और उन भोग वासनाओं की तृप्ति होना क्रमशः कठिन हो उठता है और उनकी तृप्ति न होने से क्लेश होता है। तीसरे, विलास की ओर मन जाने से क्रमशः श्रमसाध्य कर्तव्य कर्म करने में अनिच्छा हो जाति है। चौथे, मन की दृढ़ता का ह्रास होता है, और किसी अवश्य होनहार अशुभ घटना के होने पर उसे सहने की शक्ति नहीं रहती। इसी कारण विलास प्रियता निषिद्ध है। और जिस से यथार्थ आनन्द की प्रप्ति हो उसी की खोज में तत्पर रहना कर्तव्य है। विलासिता, परिणाम में दुःख दायिनी होनेपर भी, पहले सुःख कारिणी और हृदय ग्राहिणी होती है और उधर संयम की शिक्षा, आवश्यक होने पर भी पहले कुछ कष्ट देने वाली होती है, किन्तु कुछ सोचकर देखने से और विलासी और संयमी दोनों के सुख दुःख का जमा खर्च करके देखने से, इसमें सन्देह नहीं कि सुख का भाग संयमी के ही हिस्से में अधिक पड़ेगा। कारण, यद्यपि पहले संयमी को

कुछ अधिक कष्ट जान पड़ेगा, किन्तु अभ्यास के द्वारा क्रमशः उस कष्ट का ह्रास हो जाता है और अपने कर्तव्य पालन में संसार संग्राम में जय पाने योग्य बल का संचय होने से जो आनन्द होता है वह दिन २ बढ़ता रहता है। उस मनुष्य का मन क्रमशः ऐसा सबल और दृढ़ हो उठता है कि वह फिर कोई अशुभ घटना होने पर विचलित नहीं होता ॥ ४५ ॥

आमोद प्रमोद आत्मीय स्वजनों के सामने ही भला लगता है। जिस तिस के आगे और जहां तहां आमोद प्रमोद करना स्त्री के लिये ही क्यों पुरुष के लिये भी निषिद्ध है। उससे चित्त की धीरता नष्ट होती है—चंचलता आती है—और सब प्रवृत्तियां असंयत हो उठती हैं ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण वह है जो अपने धर्म और देश के लिये अपने को स्वाहा कर दे और उनकी सेवा के लिये अपने जीवन में दरिद्रता-धर्म को सानन्द अङ्गीकार करे ॥ ४७ ॥

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये मुख्य आवश्यक्ता रस (स्वाद) को मारने अथवा जीतने की है ॥ ४८ ॥

भोजन रस के लिये खाया जाता है तो वह सकाम

कर्म—सदोष आहार—है और यदि केवल भूख मिटाने के लिये खाया जाता है तो वह निर्दोष आहार--निष्काम कर्म--है ॥ ४९ ॥

मन मद्यपान किए हुए बंदर के समान है। मन की इच्छाओं का पार नहीं, उनका तो प्रति क्षण दमन करते रहना चाहिये ॥ ५० ॥

हमें किसी प्रकार की मिल्कियत न रखनी चाहिये। और रखें तो तब तक रखनी चाहिये जब तक कि हमारे पड़ोसी उसे रहने दें ॥ ५१ ॥

बहुत सी वस्तुओं का सर्वथा त्याग इष्ट है और कुछ का यथा शक्ति त्याग ही बस है ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार इच्छाओं का त्याग इष्ट है उसी प्रकार अन्य प्राणियों के उपयोग का त्याग भी इष्ट है ॥५३ ॥

त्याग और बलिदान के सिवाय आत्म शुद्धि होना कठिन बात है, बल्कि असम्भव है ॥ ५४ ॥

यह सिद्धांत नहीं है कि—इंद्रिय मात्र का उपयोग आवश्यक है। जो पुरुष ज्ञान पूर्वक वाचा के उपयोग का त्याग करता है वह संसार पर उपकार करता है। इंद्रिय-उपयोग धर्म नहीं है, इंद्रिय-दमन धर्म है। ज्ञान और इच्छा पूर्वक हुए इंद्रिय दमन से आत्मा का लाभ होता

है, हानि नहीं । विषयेंद्रिय का उपयोग केवल संतति की उत्पत्ति के लिये ही स्वीकार किया गया है, परंतु जो संतति का मोह छोड़ देता है उस की शास्त्र भी वंदना करते हैं ॥ ५५ ॥

आचार, विचार, उच्चार

पद्य :—

(१)

देखे बिना निज कर्म पहिले बोध देना व्यर्थ है ।
होता नहीं सद्धर्म कुछ उपदेश के ही अर्थ है ॥

आचरण से भिन्न ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे धर्म की व्याख्या कह सकें ॥ २ ॥

वही वस्तु भावना रूपमें रह सकती है, जिसका अमल कुछ तो हम ज़रूर करते हों ॥ ३ ॥

आचार की पूजा करते हुए हमें विचार की शुद्धता की आवश्यकता को न भुला देना चाहिये। जहां विचार में दोष होगा, वहां आचार अन्तिम सीढ़ी पर न चढ़ पावेगा ॥ ४ ॥

विचार पूर्वक जीवन व्यतीत करने से, स्वार्थ छोड़ परार्थ का ध्यान धरने से हम विना परिश्रम ही

बहुत कुछ परोपकार—देश सेवा आदि कार्य कर सकते हैं ॥ ५ ॥

और किसी प्रकार की अपेक्षा हम स्वयं भले बनकर संसार की अधिक भलाई कर सकते हैं ॥ ६ ॥

कोरा भाव चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, उसे क्षुद्र से क्षुद्र भी प्रत्यक्ष वस्तु (चरित्र) के सामने पराजित होना पड़ता है ॥ ७ ॥

हमारा मतामत सूक्ष्म तर्क की चतुरता दिखाने के लिये नहीं, किन्तु जीवन के व्यवहार के लिये होना चाहिये ॥ ८ ॥

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की क्रियाएँ तो एक सी होती हैं, फ़र्क़ मात्र वृत्ति में होता है । अर्थात् भला या बुरापन क्रिया में नहीं कर्ता की वृत्ति में है ॥ ९ ॥

असल सत्य बुद्धि का नहीं अनुभव का विषय है और वह उत्कृष्ट-आचरण-मय जीवन में अपने आप उतर आता है ॥ १० ॥

उच्च आदर्श रखते हुए जितना बन सके कर्तव्य पालन करो ॥ ११ ॥

कर्तव्य पालन में शक्ति छिपाना पाप है और शक्ति से अधिक काम कर बैठना भूल है ॥ १२ ॥

अपूर्ण (छद्मस्थ) मनुष्य का विचार, उच्चार और आचार, सरल (निष्पक्ष) हो सकता है, परन्तु सत्य—अभ्रांत—नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

पूर्ण शुद्धता और पूर्ण विद्वत्ता का संयोग बहुत ही कम जगह पाया जाता है ॥ १४ ॥

शिष्टाचार की आवश्यकता तभी तक है, जब तक कि आत्मा अर्पण करने को तैयार न हो जाय। जो अर्पण करने तो जाते हैं और लूटने लग जाते हैं, ऐसे ही लोगों के लिये तो आचार पद्धति है ॥ १५ ॥

जिस मनुष्य ने चित्त की शुद्धता खोदी, उस के पास कोई वस्तु रखने योग्य नहीं रह गई है ॥ १६ ॥

विचार-मूलक आचार लाभदायक ही होता है। परंतु कोरा आचार लाभदायक हो और न भी हो तथा हानि-कारक भी हो ॥ १७ ॥

दुनियां की स्थायी सम्पत्ति-स्त्रियों और पुरुषों की बुद्धि (ज्ञान) और आचरण (चरित्र) है। जो मनुष्य इस मूल धन के दुरुपयोग न होने देने की निगाह रखता है—रक्षा करता है—वह सच मुच में जगत रक्षक है ॥ १८ ॥

कार्य मनुष्यों के विचारों का फल है और दुःख या

सुख उस फूल के फल हैं। अतः मनुष्य ही अपने दुःख या सुख रूपी खेत का कृषक है ॥ १६ ॥

अचूक मार्ग दिखाने के लिये मनुष्य का अन्तःकरण पूर्ण निर्दोष और दुष्कर्म करने में असमर्थ होना चाहिये। जिनका ऐसा अन्तःकरण नहीं है, उन्हें चाहिये कि वे अपने विचार का प्रयोग पहिले अपने पर ही करें ॥ २० ॥

मन में जो भाव उत्पन्न है, यदि उन्हें दबाया न जाय और बार २ उनका मनन किया जाय तो मनुष्य को एक न एक दिन उन भावों (विचारों) को कार्य के रूप में अवश्य परिणत करना होगा ॥ २१ ॥

मनुष्यों को चाहिये कि—वह एक दूसरे के आचार विचार को बरदाश्त करें और अपने आचार का पालन करने में एक दूसरे के बाधक न हों ॥२२॥

मनुष्य शुभा-शुभ कार्य अनेक भावों से करता है; जैसे आशा, लोभ, भय, प्रीति, इत्यादि ॥ २३ ॥

जिस प्रकार स्त्री सेवा तो सब की करती है, पर सोती है अपने पति के पास, ठीक उसी प्रकार सब धर्मों को आदर की दृष्टि से देखो, पर आत्मा को तृप्त करो अपनी धर्म-निष्ठा से ॥ २४ ॥

मनुष्य एक नियमित कार्य है, न कि आकस्मिक कार्य। महात्मा या आदर्श पुरुष बनना कोई दैवी घटना नहीं है और न किसी की कृपा का फल है। मनके विचारों ने हम को बनाया है। जो कुछ हम हैं, अपने विचारों की ही बदौलत हैं ॥ २५ ॥

विचारों से ही बाह्य अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं, इस बात को वही मनुष्य जान सकता है, जिसने कुछ भी इन्द्रिय संयम तथा अपनी आत्मा को पवित्र बनाने का यत्न और अभ्यास किया है ॥ २६ ॥

पद्य :—

(२७)

नरत्वेपि पशूयंते मिथ्यात्व ग्रस्त चेतसः ।
पशुत्वेपि नरायंते सम्यक्त्व व्यक्त चेतनाः ॥

अर्थ—वह नर भी पशुतुल्य है जो मिथ्यात्व से ग्रसित है और वह पशु भी नर तुल्य है जो सम्यक्त्व युक्त है।

जिसका कोरा मन शुद्ध है, उसका उद्धार तो संभव है, परन्तु जिसका कोरा तन शुद्ध है, उसका उद्धार असम्भव है ॥ २८ ॥

यह ग़लत ख़्याल है कि—मनुष्य हर किसी के चारे—हर किसी के बताये रास्ते चलने—लग जाता है। सच तो यह है कि मनुष्य सुनता सौ की है पर करता मन की है। बल्कि सौ की भी वही मनुष्य सुनता है, जो कि विचार और विकार को पहिचानने की शक्ति नहीं रखता है और उसी शक्ति की प्राप्ति की इच्छा—आशा से सुनता फिरता है। सौ की सुनने पर वह शक्ति प्रायः प्राप्त होजाती है ॥ २६ ॥

शक्ति के अविहित प्रयोग को अत्याचार कहते हैं। जितनी शक्ति के प्रयोग से उद्देश्य सिद्ध हो और किसी का कुछ अनिष्ट न हो, वही विहित प्रयोग है। उससे अधिक अविहित प्रयोग है ॥ ३० ॥

पद्य :—

(३१)

बद न बोले ज़ेर गर्दू गर कोई मेरी सुने।
है यह गुम्बद कि सदा जैसी कहे वैसी सुने॥

अर्थ—आसमान के नीचे किसी को बुरी बात ज़ुबान से न निकालनी चाहिये। यह तो मठ के अंदर की आवाज़ है—जैसी कहोगे उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ेगी।

(३२)

जिनकी गलध्वनि कर्ण में ही कठिनता से पैठती ।
अन्तःकरण की बात ही अन्तःकरण में बैठती ॥
कहना तथा करना परस्पर एकसा जिनका नहीं ।
उनके कथन का भी भला कुछ मूल्य होता है कहीं ॥

वह ज्ञान सम्यकज्ञान नहीं, जो मनुष्य को चारित्र के उन्मुख न करे ॥ ३३ ॥

विचारों के कारण मनुष्य का रूप, स्वभाव बदल जाता है ॥ ३४ ॥

यदि हृदय के साथ काम न किया जाय तो हृदय में उसका फल नहीं फलता ॥ ३५ ॥

एक सी क्रिया देख कर ऐसा मत समझ लो कि—भाव भी एक से हैं। भक्षक और रक्षक की कभी २ एकसी क्रिया होती है ॥ ३६ ॥

ज्ञान और कर्म सम्बन्ध-हीन नहीं हैं, दोनों परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। अधिकांश स्थलों में देखा जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के कर्मों का प्रयोजन है और कर्म करने के लिये अनेक विषयों के ज्ञान की आवश्यकता है ॥ ३७ ॥

ज्ञान की बढ़ती के साथ २ कर्मों का क्षय होता है—

यह बात इस तरह सत्य है कि—ज्ञान की बढ़ती होने पर अनेक कर्म बेकार जान पड़ते हैं और अनेक कर्म सहज ही सम्पन्न होजाते हैं ॥ ३८ ॥

भले विचार और कार्य सदा भलाई ही उत्पन्न करते हैं। बुरे विचार और कार्य सदा बुराई ही उत्पन्न करते हैं। मनुष्य को यह नियम अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि गेहूं जुवार पैदा नहीं कर सकता। जो इसे समझने की कोशिश न करेगा, उसका जीवन असफल होगा ॥ ३९ ॥

वही वस्तु भावना रूपमें रह सकती है, जिसका अमल हम कुछ तो ज़रूर करते हों ॥ ४० ॥

प्रेरक हेतु यदि उच्च हो तो उसका कार्य उमदा होता है ॥ ४१ ॥

अहिंसा--क्षमा

किसी को मत सता और चाहे सो कर ॥ १ ॥

मनुष्य तो अपना दुःख बता सकता है और उसे दूर करने का प्रयत्न भी कर सकता है, परन्तु पशुओं में यह शक्ति नहीं, इसलिये उनके प्रति हमारा दुहरा फ़र्ज़ है ॥ २ ॥

पापी को प्राण-दण्ड देने के पक्षपातियों ! यदि आप कर्म सिद्धान्त को मानते हैं तो आपको यह बात माननी पड़ेगी कि—ज़बरदस्ती प्राणघात का फल होगा उसी क़िस्म के दूसरे शरीर का निर्माण । क्योंकि जो शख़्स इस तरह मरता है, वह अपनी लालसा के अनुसार ही शरीर ग्रहण करता है। किसी बुराई या अपराध के मौजूद रहने का यही कारण है ॥ ३ ॥

पापी को जितना ही अधिक हम दण्ड देते हैं, उतना ही अधिक वे बढ़ते हैं—अधिक पाप करते हैं। उन का रूप रंग भले ही बदल जाये, पर भीतरी वस्तु वही होगी। प्रतिपक्षी की आत्मा की सेवा करने का उपाय है, उस की आत्मा को जागृत करना। उस का नाश तो नहीं परंतु उस को जागृत करने के योग्य उपायों का उस पर असर होता है। आत्मा, आत्मा पर असर किये बिना नहीं रहती। अहिंसा आत्मा का ही एक गुण है। इस लिये आत्मा को जागृत करने का फलदायी साधन है, अकेली अहिंसा ही। और क्या अपने प्रतिपक्षी को सजा देने की बात करना मानो स्वयं अपने को अस्खलनशील —कभी भूल न करने वाला—मानने की अहन्ता को अपनाना नहीं है ? ॥ ४ ॥

जो मनुष्य अपने प्रतिपक्षी से बदला लेने के विचार में सदा निमग्न रहता है, वह मानो अपने उस घाव को नया बनाये रखता है, जो कि यों ही छोड़ देने से कुछ दिन में सूखकर आप ही आप अच्छा हो जाता ॥ ५ ॥

यदि तुम मनुष्य जाति के हितैषी हो तो शत्रु पर क्रोध मत करो। क्रोध शत्रु का तो नाश कर देगा, परंतु शत्रुता ज्यों की त्यों ही बनी रहेगी। अन्यथा इस के, क्षमा में यह ताक़त है कि वह शत्रुता का तो नाश कर देती है परंतु शत्रु को बचा लेती है। क्या तुम यह नहीं चाहते? ॥ ६ ॥

यदि अत्याचारी के अत्याचार का बदला चुकाना छोड़ कर कष्ट सहन करना हम स्वीकार करलें तो, हम अत्याचारी की मनुष्यता को थर्रा देंगे ॥ ७ ॥

अनिष्ट तत्व को नष्ट करने में नहीं, किन्तु उस पर जय प्राप्त करने में ही मनुष्य का महत्व है ॥ ८ ॥

दुष्ट को नष्ट न करके शिष्ट बनाना चाहिये ॥ ९ ॥

बुरे को नष्ट कर देने में इतनी बहादुरी नहीं है, जितनी की बुरे को भला कर देने में है ॥ १० ॥

अहिंसा के सिवाय जीवन की कितनी ही बुराइयों की कोई दवा नहीं है। अहिंसा एक प्रबल द्रावकरस है

कि जिस में वज्रातिवज्र हृदय भी पानी पानी हुए बिना नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

एक पक्ष से पवित्र प्रेम की अमृत धारा निरन्तर बरसती रहने से दूसरा पक्ष चाहे जितना नीरस हो, उसे आद्र होना ही पड़ेगा। वह चाहे जितना कटु हो, उसे मधुर होना ही पड़ेगा। वह चाहे जितना कलुषित हो, उसे पवित्र होना ही पड़ेगा ॥ १२ ॥

लहरों पर डांड मारने से लहरें नहीं रुकतीं, परंतु पतवार स्थिर कर रखने से लहरों पर विजय प्राप्त की जा सकती है ॥ १३ ॥

"माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ" अर्थात्—विपरीत वृत्ति वालों से माध्यस्थ भाव रखना चाहिए ॥ १४ ॥

जब ज़ालिम की ताक़त का जवाब नहीं मिलता, तब वह खुद उसी पर उलट पड़ती है, ठीक उसीतरह जिस तरह कि अगर हवा में बड़ी ताक़त और ज़ोर के साथ हाथ घुमाया जाय तो खुद हाथ ही उखड़ जाता है ॥१५॥

हिंसा का ज़ोर तभी बढ़ता है, जब हिंसक की पाप भरी इच्छा के आगे सिर झुकाया जाता है, या बदले में हथियार उठाया जाता है ॥ १६ ॥

सब अपने धर्म को जानें और उसके अनुसार बरतें

इसका यह अर्थ है कि सब धर्म के खातिर मरें। जो इस तरह मरता है, वह पार होता है और जो मारता है वह मरता है। अगर दूसरों की हत्या करके कोई अपने धर्म का पालन कर सकता तो आज लाखों आदमियों को मुक्ति मिल गई होती। अमरता तो मरने में ही है। मारनें का काम छोड़ कर मरने का काम सीखने में क्या कोई कठिनाई है? मरना सीखने के लिऐ तो हिम्मत की ज़रूरत है और वह विश्वास रखने वाले में निमिष-मात्र में आजाती है॥ १७॥

यदि आक्रमणकारी को क्षमा करना असम्भव है तो उनके साथ अच्छा व्यवहार तो करो! ये आक्रमणकारी कौन हैं? ये हैं, आत्मरक्षा के प्रयासी। जो वृत्ति सारी जीवमण्डली में काम कर रही है, ये उसी के द्वारा अनुप्राणित हैं। हां अनेक समय ये उपाय ढूंढने जाकर ग़लती कर बैठते हैं, क्योंकि मनुष्य-मात्र भ्रम के आधार हैं, किन्तु ये कृपाके पात्र हैं। जिस अत्याचार से अपनी रक्षा करने के लिए जीव आक्रमण करता है, उसे रोकना ही विज्ञानानुमोदित है। विरुद्ध इसके जो इस वृत्ति को दबाना चाहते हैं—पद दलित करना चाहते हैं—वे प्राणि मात्र के शत्रु हैं। किन्तु मानव समाज के नेता चिरकाल

से इस तथ्य की अवमानना करते आ रहे हैं। जो तथ्य सारे जीव समाज के लिए प्रयोजनीय है, नेतागण मानव समाज में उसका प्रयोग करना भूल जाते हैं। मनुष्य को पहिचानने के लिए जीव-विज्ञान के जितने जानने की ज़रूरत है, नेता उसका लाखवां हिस्सा भी नहीं जानते, इसलिए वे पद पद पर ग़लतियां करके समाज को पथ-भ्रष्ट करते हैं ॥ १८ ॥

नोट—यहां नेता से मतलब राजकर्मचारी लोगों से है।

अपने स्वार्थ के निमित्त और दूसरों को दुःख देने के लिये दुःख पहुंचाना हिंसा है ॥ १९ ॥

आत्म-रक्षा के लिये अनिष्टकारी को सताना या उससे बदला लेना आवश्यक होने पर उसे एक प्रकार का आपद्धर्म कह कर स्वीकार करना होता है। पृथ्वीपर बुरे आदमी हैं, इसी से भले आदमियों को भी समय २ पर विवश होकर बुरे काम करने पड़ते हैं, किन्तु इसी कारण से वैसे कार्य या वैसे कार्यों के उत्तेजक भावों या इच्छाओं का अनुमोदन नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

यदि भाग जाने से अनिष्ट निवारण हो तो भीरुता

के अपवाद का भय करके उस उपाय को काम में न लाना और अनिष्टकारी को चोट पहुँचाना सुनीति संगत नहीं है ॥ २१ ॥

तुम लोग मन ही मन दूसरे को मारना चाहते हो, इसीलिये डरते हो। जिसके हृदय में हिंसा (द्वेष) रहती है, भय उसके पीछे लगा रहता है ॥ २२ ॥

क्रोध से और बैर-बुद्धि से ज्वर (कमज़ोरी) चढ़ता है, जोश (ताक़त) नहीं ॥ २३ ॥

शुद्ध हेतु के कारण कोई अशुद्ध, बुरा या हिंसात्मक कार्य उचित नहीं कहा जा सकता ॥ २४ ॥

किसी अपराध को स्वार्थ त्याग के कारण जायज़ नहीं मान सकते। किसी अनीति का या बुरे काम का समर्थन अपना बलिदान करने से भी नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

चाहे अच्छे काम के लिये हो, चाहे बुरे काम के लिये, आतंक नीति बुरी है ॥ २६ ॥

हमारे पास कोई ऐसा अचूक और त्रिकाल अबाधित माप नहीं है कि जिससे हम किसी काम को जांच सकें कि—वह सही है कि नहीं। इसलिये आतंक नीति को बुरा ही कहना चाहिये ॥ २७ ॥

आत्मरक्षा के दो ढङ्ग हैं। पहिला सब से अच्छा और पुर-असर, अपने स्थान पर बिना बचाव किए जोखिम को उठा लेना, यह है। दूसरा अच्छा किंतु उतना ही गौरव पूर्ण, आत्मरक्षार्थ बहादुरी से लड़ना और सब से अधिक ख़तरनाक जगह में भी अपने को डाल देना, यह है ॥ २८ ॥

स्थायी कल्याण असत्य और हिंसा का फल कभी हो ही नहीं सकता ॥ २९ ॥

मार पीट से प्राप्त की हुई चीज़ दुनियां में क़ायम नहीं रह सकती ॥ ३० ॥

कायरता खुद ही एक सूक्ष्म और इसलिये भीषण प्रकार की हिंसा है। शारीरिक हिंसा की तरह इसे निर्मूल करना बहुत ही कठिन है ॥ ३१ ॥

भीरुता, फिर वह चाहे सैद्धान्तिक हो, या और तरह की हो, घृणा करने लायक़ है। अकसर लोग भीरुता को ग़लती से अहिंसा या क्षमा मान लेते है ॥ ३२ ॥

शान्ति बलिष्ठ का शस्त्र है और उसी के हाथ में उसकी शोभा होती है। शान्ति का अर्थ है क्षमा। क्षमा वीर का आभूषण है। मजबूरी से जो काम करना पड़ता है, से उस पुण्य नहीं मिल सकता ॥ ३३ ॥

मनुष्य व्यापक मंगल की सृष्टि तपस्या द्वारा करता है। क्रोध और काम इस तपस्या को भङ्ग और उसके फल को एक ही क्षण में नष्ट कर देते हैं ॥ ३४ ॥

प्रति हिंसा—शत्रु का दमन कर सकती है, विनाश कर सकती है, उसे भस्म कर सकती है। लेकिन क्षमा वह चीज़ है कि जो शत्रु को मित्र बना देती है, निरीह बना देती है, देवता बना देती है। पीड़ा पहुंचाना नरक का धर्म है, प्रतिहिंसा पृथ्वी का धर्म है और क्षमा स्वर्ग का धर्म है ॥ ३५ ॥

क्रोध, अहंकार, कपट और तृष्णा, इनका क्षेत्र सबसे नीचा है। जो इस स्थान में जा गिरता है, उसे अनेक कष्ट भोगना पड़ते हैं ॥ ३६ ॥

दुष्ट को क्षमा करने का अर्थ यही है कि उसका बुरा न चाहें ॥ ३७ ॥

ऐसा नम्रता पूर्वक व्यवहार, जिसका कि उद्गम अपने बल और ज्ञान से हुआ हो, अन्त में ज़ालिम के ज़ुल्म को मिटाये बिना नहीं रह सकता ॥ ३८ ॥

दुनयवी हक़ों को छोड़कर—दुनियाँ से हाथ धोकर—दुनियाँ को नमस्कार (त्याग) कर—के ही हम उसे गुलाम बना सकते हैं ॥ ३९ ॥

किसी ध्येय के लिए कष्ट सहन की क्षमता पैदा कर लेने से उसका मिलना आसान होता है ॥ ४० ॥

क्रोधरहित—द्वेषरहित—कष्ट सहन के उदीयमान सूर्य के सामने कठोर से कठोर हृदय पिघले बिना नहीं रह सकता और घोर से घोर अज्ञान दूर हुए बिना नहीं रह सकता ॥ ४१ ॥

मनुष्य में जितने सद्गुण हैं और जितने उच्च धर्म हैं, उन सब में दया श्रेष्ठ है। मनुष्य में यदि दया न हो तो वह केवल उदर-पोषक उपद्रवी और दरिद्री जीव है, ऐसे मनुष्य और कृमि कीटादिकोंमें विशेष अन्तर नहीं ॥४२॥

बहुत मनुष्य छोटे २ जीवों की रक्षा करने में प्रमाद करते हैं, यह उनकी कठोरता है। उन्हें मालूम होना चाहिए कि शक्ति हीनता के कारण छोटे जीवों की कषायें (क्रोधादिक) बड़ी तीव्र होती हैं। कहावत भी प्रसिद्ध है—"कमज़ोर के गुस्सा बहुत"। अतएव छोटे २ जीवों को भी दुःख न पहुंचाना चाहिए ॥ ४३ ॥

पापात्मा के शरीर को नहीं, स्वभाव को बदलदेने की कोशिश करो ॥ ४४ ॥

सत्य के लिए आत्म-बलिदान हिंसा नहीं है। जब एक दूसरे को हानि पहुंचाता है तभी उसको हिंसा कहते

हैं। स्वयं अपने शरीर को कष्ट पहुंचाना तो उलटा अहिंसा का सत्व है, और हिंसा के स्थान पर उस की स्थापना की गई है ॥ ४५ ॥

शास्त्र हिंसा की आज्ञा नहीं देता। परन्तु प्रसंग विशेष पर हिंसा विशेष को अनिवार्य समझकर उसकी छुट्टी देता है। जो मनुष्य शास्त्र की दी हुई छूट से लाभ नहीं उठाता, वह धन्यवाद का पात्र है। अनिवार्य हिंसा, हिंसा न रहकर अहिंसा नहीं होजाती। हिंसा को हिंसा के ही रूप में जानना चाहिए ॥ ४६ ॥

डरकर जो हिंसा नहीं करता, वह तो हिंसा कर ही चुका है। चूहा बिल्ली के प्रति अहिंसक नहीं; उसका मन बिल्ली की हिंसा निरन्तर करता रहता है ॥ ४७ ॥

हिंसा करने का पूरा सामर्थ रखते हुए भी जो हिंसा नहीं करता है वही अहिंसा-धर्म पालन करने में समर्थ होता है ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य स्वेच्छा से प्रेम भाव से किसी की हिंसा नहीं करता, वही अहिंसा-धर्म का पालन करता है ॥ ४९ ॥

अहिंसा का अर्थ है प्रेम, दया, क्षमा। शास्त्र इनका वर्णन वीर के गुण के रूप में करते हैं—यह वीरता शरीर

की नहीं, बल्कि हृदय की। शरीर से क्षीण पुरुष भी औरों की मदद से घोर हिंसा करते हुए देखे गये हैं। जब तक हृदय का बल प्राप्त नहीं होता तब तक मनुष्य अहिंसा धर्म का पालन नहीं कर सकता ॥ ५० ॥

आजकल की वणिक्-अहिंसा—तोलकर दी हुई अहिंसा—अहिंसा नहीं। इस में तो बहुत बार घोर निर्दयता दिखाई देती है। और अज्ञान तो उसमें अवश्य ही है ॥ ५१ ॥

अहिंसा एक महाव्रत है, तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। देहधारी के लिए उसका सोलह आना पालन असंभव है। उसके पालन के लिए घोर तपश्चर्या की आवश्यकता है। तपश्चर्या का अर्थ यहां त्याग और ज्ञान करना चाहिए ॥ ५२ ॥

सत्य, अनुभव, सत्य का उपभोग।

जो वस्तु सहज और स्वाभाविक होती है, उस में यह खूबी रहती है कि उसका स्वाद कभी पुराना नहीं होता—उसकी सरलता उसे सदा ही नया बनाये रहती है। वास्तविक स्वभाव की बात को मनुष्य ने आज तक

जितनी बार कहा है, उतनी ही बार वह नई मालूम हुई है ॥ १ ॥

जो विस्मय-कर है, वह केवल एक ही बार विस्मित करता है, परन्तु जो मनोहर है, उसकी मनो-हारिता उत्त-रोत्तर बढ़ती जाती है। सत्य मनोहर है ॥ २ ॥

अत्यन्त सहज सत्य भी शायद रक्त समुद्रपार कर के आता है ॥ ३ ॥

सत्य के कोरे सिद्धान्त का तब तक कुछ भी महत्व नहीं रहता जब तक वह उन मनुष्यों में, जो उसकी हिमा-यत के लिए अपने प्राणों का भी यज्ञ करने के लिए तैयार रहते हैं, मूर्ति स्वरूप नहीं प्राप्त कर लेता ॥ ४ ॥

सत्य उतनाही पुरातन है जितना कि यह जगत; पर फिर भी उस से हमारा जी नहीं उबा। असत्य का आचरण करते हुए भी हमें सत्य का ख्याल रहता है, यह हमारी नाप है। सत्य का अनुभव-पाठ हमें नित नई वस्तु की तरह अच्छा लगता है ॥ ५ ॥

असमर्थ के लिए मुख्य विपत्ति यही है, कि—वह कोई भारी-काम नहीं कर पाता। इस लिए भारी ढोंग को अच्छा समझता है। वह यह नहीं जानता कि—मनुष्य-

त्व प्राप्त करने के लिए भारी झूंठ की अपेक्षा छोटा सा सत्य अधिक काम की चीज़ है ॥ ६ ॥

सत्याचरणी को कोई धोखा दे ही नहीं सकता; क्योंकि उसके सामने झूंठ बोलना अशक्य होजाता है ॥७॥

सत्य की खोज करने वाला दूसरों की खोज को तटस्थ तौर से देखता है और उसे अपनी खोजके साधन समझता है ॥ ८ ॥

आग्रही अपनी दलील को निर्दिष्ट मति तक लेजा कर सत्य मान लेता है। पर अनाग्रही अपनी मति को, जहां तक युक्ति जाती है, वहां सत्य सीमान्त मान नहीं लेता, किन्तु विश्राम देता है ॥ ९ ॥

क्षुधित सत्य को बल-पूर्वक नष्ट करने का उपाय मानव या दानव किसी के पास नहीं है ॥ १० ॥

हम पर होने वाले अन्याय और अत्याचार दुनियाँ में अभी तक इसी लिए टिके हुए हैं कि हम सत्य के सच्चे प्रति-निधि नहीं हैं ॥११॥

जहां मनुष्य की अक़्लमन्दी काम नहीं देती, वहां सत्य (अनुभव) अवश्य काम देता है ॥ १२ ॥

संयोग के बदलने पर जो बदल जावे, वह सत्य नहीं है ॥ १३ ॥

कायरता, शूरता, द्वेष, प्रेम, असत्य; सत्य, यह सब हृदय के गुण हैं। सद्गुण को दिखाना आसान है, पर दूसरे के हृदय में रहने वाले सद्गुण को परखना हमेशा ही कठिन होता है। सबसे सुरक्षित मार्ग तो है—यह मान लेना कि—मनुष्य के वचन जैसा वह कहता है वैसा सच ही है। जब तक प्रबल कारण न हो, किसी की भी बात पर शक न करें ॥ १४ ॥

मनुष्य के लिये दुनियाँ में किसी चीज़ का ज्ञान प्राप्त करने का सिर्फ़ एक मार्ग यही है कि जितने आदमी अपने मत के विरुद्ध हों उनके कथन को—दलील को—ध्यान पूर्वक सुने और उन पर विचार करे ॥ १५ ॥

जो बात खंडन के लिये बहुत मौक़े देने पर भी खंडित न होने से सच मानली जाती है वह, और जो बात खंडन के लिये मौक़ा ही न देकर सच मानली जाती है वह, इन दोनों में ज़मीन आसमान का अन्तर है ॥ १६ ॥

बिना विरोध और संशय के सहज ही सत्य को ग्रहण करने से वह सम्पूर्ण रूप से गृहित नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

शङ्काओं से मत घबराओ, उन्हें उठने दो, निर्भय होकर उनका मुक़ाबला करो। क्या तुम यह समझते हो

कि लड़ने के बजाय भागने से रक्षा हो जायगी ? भूलते हो ॥ १८ ॥

सत्य को सबसे अधिक मान दो । सत्य से मनुष्य वाक्य बड़ा नहीं है ॥ १९ ॥

संसार में मीठा सत्य कहने वालों की कमी नहीं, कमी उनकी है जो कड़वा सत्य कहने में भी नहीं हिचकिचाते ॥ २० ॥

सत्य बोलना मानो आत्मा को सुव्यक्त करना है । अपूर्णता के कारण हम सर्वदा सत्य नहीं बोल सकते । कम से कम अपनी यह असमर्थता स्वीकार करना ही उचित है । इसे दृढ़ करने की चेष्टा करना तो विधि विरुद्ध है ॥ २१ ॥

सत्य को जानना जितना कठिन है, जाने हुए सत्य को प्रगट करना उससे अनेक गुणा कठिन है ॥ २२ ॥

सत्य मनुष्य को निर्भय बना देता है ॥ २३ ॥

नम्रताहीन सत्य एक उद्धत हास्य चित्र है ॥ २४ ॥

पद्य :—

(२५)

देह नश्वर कीर्ति स्थिर है, सत्य फिर क्यों छोड़िये ।

सत्य सर्वदा स्वावलम्बी होता है और बल तो उसके स्वभाव में ही होता है ॥ २६ ॥

ईश्वरी प्रकाश किसी एक ही राष्ट्र या जाति की संपत्ति नहीं है ॥ २७ ॥

सभी के दृष्टि बिन्दुओं में कुछ न कुछ सत्य अवश्य है । अतएव जिसे जो दृष्टि-विन्दु अनुकूल हो—स्वभावतः स्वीकारणीय लगता हो—उससे उसी का अनुसरण करके अपना जीवन चलाना चाहिये ॥ २८ ॥

सत्य का सेवन करने वालों के सामने सारे विश्व की समृद्धि आकर खड़ी हो जाती है और वह ईश्वर का साक्षात्कार करता है ॥ २९ ॥

केवल पांडित्य और शास्त्रीय ज्ञान को ही आधार न बनाना चाहिये, उसमें आत्मा की प्रतीति भी होनी चाहिये ॥ ३० ॥

"यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं, नो कथनीयं नो चरणीयं" इस का यह मतलब नहीं है कि—अप्रामाणिक लोक—समूह के विरुद्ध भी आवाज़ न उठाई जाय और आचरण न किया जाय ॥ ३१ ॥

चार वेदों की आज्ञा से भी भ्रष्ट वस्तु (असत्य) पवित्र (सत्य) नहीं हो सकती ॥ ३२

सत्य परायण मनुष्य बड़ा आत्म-ताड़न करने वाला होता है। उसे नम्र बनने की आवश्यकता है ॥३३॥

सत्य को प्यार करो; विश्वास के अनुसार कार्य करो। कोई हर्ज नहीं है, यदि सत्य की लड़ाई में यह जीवन उत्सर्ग करना पड़े। जानते हो? बदले में दीर्घ जीवन का लाभ होगा ॥ ३४ ॥

अपने मन को यथार्थता (सत्य) के समीप, चाहे वह कितना ही भयानक क्यों न हो, चाहे और उसके तीव्र कंपन से हृदय तन्तरी छिन्न भिन्न हो जाय, पहुंचाओ ॥ ३५ ॥

जिसे हम अस्वाभाविक समझें, वह अवश्य ही मिथ्या है, ऐसा हम नहीं कह सकते। क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसे अनेक स्वाभाविक नियम हैं जो हमें मालूम नहीं, तथापि अपनी अज्ञता मान लेने पर भी किसी प्रमाण के बिना किसी अनैसर्गिक और अलौकिक घटना पर विश्वास न करना चाहिए। बल्कि प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाने पर भी सहसा किसी अलौकिक बात पर विश्वास न करना चाहिए। क्योंकि हमारी ज्ञान इन्द्रियों का भ्रम में पड़ना संभव है परन्तु प्राकृतिक नियमों का लंघन होना कदापि संभव नहीं। जो अलौकिक

घटना प्राकृतिक नियम से संगत हो उसे मान लेना चाहिए ॥ ३६ ॥

हम सब मर जायँ तो कुछ परवाह नहीं, परन्तु सत्य को क़ायम रहने देना चाहिए ॥३७॥

पद्यः—

(३८)

सत्य बिना मिथ्या नहीं, अरु मिथ्या विना न सत्य ।

जहां मिथ्या सत्य और सत्य मिथ्या हो जाता है, वहाँ झूंठ बोलना दोष नहीं है ॥ ३९ ॥

जिस सत्य बचन से किसी पर नाहक़ विपत्ति आजाय, ऐसा सत्य कभी मत बोलो ॥ ४० ॥

संदेहास्पद वस्तुओं में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण है ॥ ४१ ॥

पद्य :—

(४२)

केवल शास्त्र माश्रित्यं न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीन विचारेतु धार्म्म हानिः प्रजायते ॥

अर्थ—केवल शास्त्र के आधार पर ही कर्तव्य का निर्णय न करना चाहिये, किन्तु युक्ति को भी आधार बनाना चाहिये ।

(४३)

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषो कपिलादिषु ।
युक्ति मद्वचनम् यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

अर्थ—न तो महावीर से राग हो, न कपिल से द्वेष हो, जिसका वचन युक्ति-युक्त हो उसे ही ग्रहण करना उचित है।

(४४)

बालादपि गृहीतव्यम् युक्ति युक्तम् मनीषिभिः ।
रवेर विषये किंन् प्रदीपस्य प्रकाशकम् ॥

अर्थ—बालक के वचन भी युक्ति-युक्त हों तो विद्वानों को ग्रहण करना उचित है। जहां सूर्य का प्रकाश नहीं होता, क्या वहां दीपक प्रकाश नहीं कर सकता ?

आदमी इस बात का विचार क्यों नहीं करता कि जिन कारणों से वह लंदन में क्रिश्चियन हुआ, उन्हीं कारणों से वह हिन्दुस्थान में हिन्दु धर्म का अनुयायी होता है ॥ ४५ ॥

केवल विस्मय का आनन्द चित्त को परिपूर्ण नहीं कर सकता, वह मन को इधर उधर भटकाता ही है ॥४६॥

अभ्यास एक ऐसी चीज़ है कि उससे प्रकृति के विरुद्ध भी उदाहरण उत्पन्न किए जा सकते हैं, परन्तु

उन पर विचार न करके उन्हें दिल्लगी में उड़ा देना ही अच्छा है ॥ ४७ ॥

जो प्रकृति की उलटी गति का समर्थन करता है, प्रमाण का भार उसी पर रहता है ॥ ४८ ॥

पद्य :—

(४९)

सद्गुणों पर है लगी, मुद्रा न ज्ञाति विशेष की ।

(५०)

अनुभव बिना जानी न जाती, बात कोई भी कभी ।

(५१)

होही न सकती बात जो, वह किस तरह होगी भला ।

न्याय कर्ता पर न्याय करते वक्त रुचिका बहुत प्रभाव रहता है ॥ ५२ ॥

सच्चामार्ग शान पर चढ़ाये हुए छुरे की धार समान दुर्गम और दुरतिक्रम्य होता है ॥ ५३ ॥

जिन बातों को हम अत्यन्त विश्वसनीय और सच्ची समझते हैं, उनको मनुष्य मात्र के सामने रख कर हमें यह कहना चाहिए कि यदि किसी में शक्ति हो तो वह उनको झूठ साबित करे । हमको चाहिए कि हम लोगों आह्वान करें, हम उनको चुनौती दें कि यदि हमारी

सम्मति सदोष हो तो वे उसका खण्डन करें। यदि किसी ने हमारी ललकार को, हमारे प्रचारण को न मंजूर किया। अर्थात् हमारी बात को ग़लत साबित करने की कोशिश न की या कोशिश करने पर यदि उसे कामयाबी न हुई, तो भी हमको यह न समझना चाहिए, कि हमारी बात सच है, हमारा किया हुआ निश्चय विश्वसनीय है। हरगिज़ नहीं, उस से सिर्फ़ इतना ही सिद्ध होता है कि आदमी की जितनी शक्ति है उतना करने में हमने कसर नहीं की। जो कुछ सम्भव था वह हमने किया। अर्थात् सत्य जानने के जितने मार्ग थे, उन में से एक की भी हमने उपेक्षा नहीं की, सत्य को अपने पास तक पहुँचने के जितने रास्ते थे, एक को भी रोकने का हम ने यत्न नहीं किया। सत्य की प्राप्ति के सब दरवाज़ों को खुले रखने से हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि यदि हमारे मत से भी अधिक सच्चा मत संसारमें है तो जिस समय मनुष्य का मन उसे पाने का पात्र होगा, मनुष्य की बुद्धि उसे ग्रहण करने योग्य होगी, उस समय वह आप ही आप मालूम हो जायगा। तब तक हम को इसीसे संतोष करना चाहिए कि अपने समय की जहां तक सत्यता की प्राप्ति संभव थी वहां तक हमने पाली ॥ ५४ ॥

कोई मत या पन्थ जब वह परम्परा से प्राप्त होता है, जब वह जन्म से ही मिलता है, जब वह चुप चाप बिना उसके गुण दोष का विचार किये स्वीकार कर लिया जाता है तब उसकी सचेतनता बिल्कुल ही जाती रहती है, अर्थात् पहिले पहल उस पर विश्वास जमने के समय शंका का समाधान करने के लिए मन को जो शक्ति ख़र्च करनी पड़ती थी, उसका ख़र्च जब बन्द हो जाता है अर्थात् जब प्रति-पक्षियों से वादविवाद करने की ज़रूरत नहीं रहती, तब उस पन्थ या मत के मूल मन्त्रों को छोड़ कर बाक़ी सब बातें लोग धीरे धीरे भूलने लगते हैं। उस की सिर्फ़ ख़ास २ बातें याद रह जाती हैं और कुछ नहीं। या यदि उस मत की सजीवता के चिन्ह हृदय पर रहते भी हैं अर्थात् यदि उस के सम्बन्ध की कुछ बातें याद भी रहती हैं वो भी निज के तजरुबे से उनकी जांच करने या अन्तःकरण पूर्वक उन पर विश्वास करने की कोई ज़रूरत नहीं समझी जाती। दूसरों को उस मत को स्वीकार करते देख और लोग भी बिना सोचे समझे उसे स्वीकार कर लेते हैं। मतलब यह कि उस विषय में लोग बेहद बे परवाही रते हैं। नतीजा इसका यह है कि अन्त में मनुष्य जाति

की आत्मा से, उसके भीतरी मनो-देवता से, उस मत या पंथ का सारा संबंध छूट जाता है। जब यहाँ तक नौबत पहुँचती है, तब मनुष्यों की धार्मिकता को वह अवस्था प्राप्त होती है जिसने आजकल दुनियाँ में सब से अधिक ज़ोर पकड़ा है। इस अवस्था को, इस दशा को पहुँचने पर किसी धर्म्म या मत विशेष से सम्बन्ध रखने वाली बातें गोया मत के बाहर ही रह जाती हैं और वे एक तरफ़ को ऐसा मज़बूत बेठन बन जाती हैं कि बेठन को तोड़ कर अच्छे २ ख़यालात की पहुँच मन तक होही नहीं सकती। मन उस समय मन नहीं रहता, वह पत्थर सा होजाता है। उस पर उत्तम और उदार विचारों का असर ही नहीं होता इस दशा में मनोमहाराज एक भी नये और लाभदायक विश्वास को अपने पास तक नही पहुँचने देते। उनको दूर फेंकने की कोशिश में ही वे अपनी सब शक्ति को खर्च करते हैं और वह धार्मिक बेठन क्या काम करता है? कुछ नहीं—न वह मन के ही काम आता है, न हृदय के ही। हां, एक काम वह ज़रूर करता है वह उनका सन्तरी होकर दरवाज़े पर बैठा रहता हैं और किसी को भीतर नहीं जाते देता॥ ५५ ॥

शास्त्र, सर्व-तन्त्र-सिद्धान्त (व्यापकता) का पता

दे सकते हैं, आंशिक और तदन्तर्गत बात को देश काल और अवसर के आधीन कर देते हैं ॥ ५६ ॥

जो वस्तु हमारे चारों ओर नहीं फैली है, और जो हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं है, यदि हमारी ज्ञान-चर्चा प्रधानतया उसीको अवलम्बन करके ही होती हो तो हमारा वह ज्ञान अवश्य दुर्बल होगा ॥ ५७ ॥

सत्य बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है जिस से सब प्राणियों का हित हो। क्योंकि जिस से सब प्राणियों का हित होता है वही सत्य है ॥ ५८ ॥

जिस वचन से सभी की हानि हो, वह सत्य वचन नहीं है ॥ ५९ ॥

अक्षरार्थ ग्रहण करने में मृत्यु है और आशय ग्रहण करने में जीवन लाभ है ॥ ६० ॥

कटुता से कल्पना-पथ मलिन हो जाता है और मनुष्य उस मर्यादित सत्य को भी देखने में उस हद तक असमर्थ हो जाता है, जिस हद तक कि—शरीर से अंधे मनुष्य हाथी को टटोल २ कर देख पायें ॥ ६१ ॥

सत्य वही होता है जो कि कभी कठोर नहीं होता, बल्कि हमेशा प्रिय और हितकर होता है ॥ ६२ ॥

तीखी चटपटी भाषा सत्य के नज़दीक उतनी ही विजातीय है जितनी कि—नीरोग जठर के लिए तेज़ मिर्चियां ॥ ६३ ॥

ऐसा विचार करने का रिवाज सा पड़ गया दिखाई देता है कि सच बोलने के लिए मनुष्य को अप्रिय भाषा का प्रयोग करना चाहिए। हालाँकि जब सत्य अप्रियता के साथ में उपस्थित करते हैं तब उसको हानि पहुंचती है। यह ऐसा ही है जैसा कि—शक्ति को सहारा देना! सत्य स्वयं ही पूर्ण शक्तिमान है और जब वह शब्दों के द्वारा उसकी पुष्टि का प्रयत्न किया जाता है तब वह अपमानित होता है ॥ ६४ ॥

भक्ति—प्रभुभक्ति

शक्ति के भय से प्रभुत्व के निकट आत्म समर्पण करना भक्ति नहीं भीति है, किन्तु स्वाधीन बोध-शक्ति के योग से हम महत्व के निकट आत्म-समर्पण करते हैं वही सार्थक भक्ति है ॥ १ ॥

भक्ति सदा ही आत्मबलि मांगती है और आत्मबलि वही दे सकता है जो वीर हो, निर्भय

हो, स्वाभिमानी हो और शरीर-मोह का त्यागी हो ॥ २ ॥

भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है और उस सम्बन्ध में दान प्रतिदान दोनों हैं । इस संबंध को जोड़ने के लिये निकट आना पड़ता है ॥ ३ ॥

जहां आत्मा का आत्मीय से सम्बन्ध हो, केवल वहीं सिर झुकाने में सुख मिलता है, नहीं तो अपमान और कष्ट जान पड़ता है ॥ ४ ॥

यह कहना सर्वथा असत्य है कि हमारी दीनता ही हम से प्रबलता की पूजा कराती है । सभी जानते हैं कि भारतीय लोग गाय की भी पूजा करते हैं; गाय का पशु होना उन्हें मालूम न हो, यह बात नहीं है ॥५॥

देव हो या मानव, जहां केवल प्रताप का प्रकाश है, वहां डर कर सिर झुकाना मानो ईश्वर मन्दिर का अपमान करना है ॥ ६ ॥

जहां प्रेम का संबन्ध है, वहाँ ही नत होने में गौरव है ॥ ७ ॥

पद्य :—

(८)

नास्तिक मनुज भी विपद में—करते विनय भगवान की ।

(९)

मौतने कर दिया लाचार वगर्ना इंसां ।
है वह खुदवीं कि खुदाका भी न क़ायल होता ॥

देहके अभावों की पूर्ति और विषय वासनाकी तृप्ति में हम निरन्तर इतने लिप्त रहते हैं कि सहज में आध्यात्मिक चिंता में मन लगाने का अवसर नहीं पाते। इसी कारण प्रतिदिन दिन के काम शुरू करने के पहिले और समाप्त करने के पीछे कम से कम दो बार उपासना के लिये कुछ समय नियुक्त कर रखना आवश्यक है। ऐसा करने से एक तो इच्छा से या अनिच्छा से दिनभर में दो दफ़े आध्यात्मिक चिंता की ओर मन जायगा और क्रमशः अभ्यास होजाने पर नित्य उपासना की ओर आप ही से मन आकृष्ट होगा ॥ १० ॥

(११)

कब हक़ परस्त ज़ाहिद जन्नतपरस्त है ।
हूरों पे मर रहा है यह शहवत परस्त है ॥

अर्थ—कौन कहता है कि भक्त ईश्वर को भजता है? वह तो स्वर्ग की अप्सराओं पर मर रहा है।

भक्ति के बिना, बुरा भले का अनुगामी नहीं होता और बुरा भले का अनुगामी न हो तो समाज का

ऐक्य नहीं रहता, बन्धन नहीं रहता, उन्नति नहीं होती ॥ १२ ॥

जिस हृदय में संसार की वासना का वास है, उसमें प्रभुकी प्रभुता का वास नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

जो हम से श्रेष्ठ हैं और जिनकी श्रेष्ठता से हमारा उपकार होता है, वही भक्ति के पात्र हैं ॥ १४ ॥

भक्ति अपनी उन्नति के लिये है। जिसमें भक्ति नहीं है, उसके चारित्र की उन्नति नहीं होती ॥ १५ ॥

(१६)

विज्ञ होकर भी अहो तुमने भला यह क्या किया।
चाटुकारी में वृथा गौरव समस्त गमा दिया॥
दुरुपयोग न योग्य है, करना कभी यों शक्ति का।
चाटुकारों में न होता लेश भी प्रभु भक्ति का॥

इस समय जो हिन्दू बालकों में पिता माता आदि के प्रति भक्ति का अभाव या कमी देख पड़ती है उस का एक कारण शायद यह भी है कि उन्हें जो शिक्षा मिलती है वह उनके मनमें मां बाप के धर्म अर्थात् हिन्दू धर्म पर अश्रद्धा पैदा कर देती है ॥ १७ ॥

ईश्वर भजन का अर्थ है उसके गुणका गान। प्रार्थना का अर्थ है अपनी अयोग्यता की—अपनी अशक्ति की—स्वीकृति ॥ १८ ॥

मनुष्य का महत्व

१. विश्व में एक ही मन्दिर है। वह मन्दिर दूसरा कुछ नहीं, मनुष्य देह है। मनुष्यभक्ति यह ईश्वरभक्ति है और मनुष्यद्रोह यह ईश्वरद्रोह है। मनुष्यके अन्दर समुच्चय विश्व (लोक) है। विश्व की रचना भी मनुष्य देह के बराबर है—एवम् विश्व के सभी तत्व मनुष्यके अन्दर हैं। अहा! इससे अधिक वस्तु और कौन हो सकती है।

२. मनुष्य जीवन इतना सस्ता नहीं है कि उसको यों ही नष्ट करदिया जाय।

३. मनुष्य को अपने भाव प्रकट करने के लिये अनेक प्रकार की निपुणता काम में लानी पड़ती है। उसे शब्द के साथ सङ्गीत का संयोग करना पड़ता है, उसमें सुन्दरता लानी पड़ती है, तब कहीं मन का भाव मनमें जाकर प्रवेश करता है। यह यदि कृत्रिम कहा जा सकता है तो यह बात भी माननी पड़ेगी कि यह संसार कृत्रिम है।

४. कृत्रिमता ही मनुष्योंका प्रधान गौरव है। मनुष्य के सिवाय किसीको भी कृत्रिम होने का अधिकार नहीं। वृक्ष अपने पत्ते स्वयं नहीं बनाते, मोर की पूँछको भी स्वयं

प्रकृति ही चित्र विचित्र बनाती है। केवल मनुष्य को यह अधिकार है कि वह अपने लिये रचना करे—एक छोटी मोटी सृष्टि उत्पन्न करनेका अधिकार मनुष्यके हाथमें विधाताने दिया है। इस कार्य में जिस मनुष्यने जितनी दक्षता पाई है, उसका आदर भी जन समाज में उतना ही हुआ है।

५. सुन्दरता और मधुर हास्य, ये मनुष्य की अद्भुत शक्तियां हैं।

६. संसार के साथ कोई सम्बन्ध न रखने से ही मनुष्य का गौरव नहीं हो सकता। संसार की सभी विचित्रताएं मनुष्य में हैं, इसी कारण मनुष्य बड़ा समझा जाता है।

७. मनुष्य को पहिचानना बड़ा कठिन है, खासकर जिस समय तक उसके शरीर और मन का पूर्ण रूप से विकाश न हुआ हो।

८. मनुष्य के बहुत ही पास पहुँचने के लिये—मनुष्य स्वभाव का परिचय प्राप्त करनेके लिये—जिस क्षमता की ज़रूरत होती है, वह बहुत ही दुर्लभ है।

९. मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धारक है और अपना शत्रु और नाशक भी है।

१०. इस अनादि अनन्त संसार-उद्यान में मानव जीवन रूपी वसन्त ऋतु प्रायः एक ही बार आती है।

११. मनुष्य अपने अँध आवेगों के ऊपर शासन कर सकता है। मनुष्य के कथन की, मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी जीवधारी साक्षी नहीं भर सकता है। पाप करने की संभावना (शक्ति) रहते हुए भी मनुष्य सत्कर्म करता है—ये ही मनुष्य की मुख्यता के चिन्ह हैं।

१२. मनुष्य के चरम योनि होने का प्रमाण यह है कि ईश्वर भी अपनी आज्ञाओं को मनुष्य ही के द्वारा प्रकाशित कर सकता है।

१३. इस "जीवो जीवस्य जीवनम्" वाले संसार महा संग्राम में अकेला मनुष्य ही स्वार्थ त्याग करने में समर्थ है।

१४. आत्म-रक्षा करने वाली हिम्मत ही मनुष्य का गौरव है।

(१५)

जो फ़रिश्ते कर सकते हैं कर सकता है इन्सान भी।
पर फ़रिश्तों से न हो जो काम है इन्सान का॥

१६. निराश मत होओ, मनुष्य की ऐसी दुर्दशा कभी नहीं हो सकती कि उसमें शुभ कुछ न दीख पड़े।

१७. मनुष्य मात्र में थोड़ा बहुत पुरुषार्थ तो रहता ही है।

१८. परिस्थिति को अपने आधीन कर लेने का नाम पुरुषार्थ है।

१६. ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस तरह से की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह बच सकता है। तिर्यञ्च और देव नारकी नहीं बच सकते।

२०. ईश्वर ने मनुष्य को जुबान ज़ायका चखने के लिये दी थी, पर मनुष्यने उससे भाषा की सृष्टि करडाली।

(२१)

गुण पर न रीझे वह मनुज है तो भला पशु कौन है।
निज शत्रु के गुण गान में भी योग्य किसको मौन है॥

(२२)

हमने माना हो फ़रिश्ते शेख़ जी।
(पर) आदमी होना बहुत दुश्वार है॥

२३. मनुष्य कारण है और ईश्वर कार्य है।

२४. प्रत्येक प्राणी को प्रयत्न करने पर परम ऐश्वर्य (परमेश्वरत्व) प्राप्त हो सकता है।

२५. ऐसा किस तरह कहते हो कि हमें थोड़ी सी शक्ति मिली है? अज्ञानियो! प्रकृति के भंडार में कोई कमी थोड़े ही है। तुमने अभी अपनी शक्ति को ठीक २ नहीं जाना। प्रकृति ने बीज को कोरा बीज ही नहीं बनाया, उसे वृक्ष होने की शक्ति भी दी है। तुम अपने अङ्गों को यदि विकसित करो तो इनमें वह शक्ति है कि तुम विश्वसमुच्चय का एक क्षण में ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, अनन्त शक्ति प्राप्त कर सकते हो।

मनुष्य का स्वभाव ।

१. सब विषयों का निगूढ़ तत्व जानने की इच्छा और अपनी अवस्था की उन्नति करने की चेष्टा मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है ।

२. दुर्भाग्यवश उन्नति के मार्ग की अपेक्षा अवनति के मार्ग में मनुष्यों की गति अति सहज होती है ।

३. सच्ची बात तो यह है कि परिचित दोष यदि बड़े हों तो भी उधर मनुष्य, विशेष ध्यान नहीं देता । परन्तु अपरिचित सामान्य दोष को भी मनुष्य बड़ा भारी समझता है ।

४. मनुष्यके संसर्ग से सभी वस्तुएं प्रायः कठिन हो जाती हैं । बेचारा मनुष्य इस प्रकार का बनाया ही गया है कि वह सीधे से सीधे उपाय का भी आश्रय ग्रहण करे, परन्तु वह कठिन ही होजाता है ।

५. अपने पड़ोसी के लिये मरना तो मनुष्य का सहज स्वभाव है ।

६. मनुष्य मात्र में जय-पिपासा न्यूनाधिक प्रमाण में रहती ही है ।

७. जिस समय मन यह कहता हो कि यह काम न्यायसंगत नहीं हो रहा है और विना उस काम के किए भी गुज़ारा नहीं होता हो, उस समय यदि कोई धर्मकी दोहाई देने लगे तो बहुत क्रोध आता है। मनुष्य पर ही नहीं, धर्म शास्त्र पर भी तबियत खिजला उठती है। क्योंकि कोई युक्ति का अस्त्र रह ही नहीं जाता है।

८. हमारे अन्तःकरण की रचना ही ऐसी हुई है कि किसी महान अनिवार्य आपत्ति से हमको जितना शोक होता है, उस से अनेक गुणा अधिक शोक हमको उन लोगों की वेवफ़ाई से होता है, जिन को कि हमारी आपत्ती में समदुःखिता (सहानुभूति) दिखाना चाहिए।

९. मना करने का कारण दिखाये विना, मना करने से, मनुष्य अधिक आतुरता से उसकी तरफ़ दौड़ता है।

१०. अपनी चीज़ का ठीक २ आदर करना कोई नहीं जानता।

११. जो दोष हममें है, अपने हाथ से उसका न्याय होना कठिन है।

१२. मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदा शिकायत करता रहता है।

१३. जब हम यह देखते है कि एक आदमी की

वासनाएं और मनोविकार दूसरे आदमी की अपेक्षा प्रबल और अधिक हैं तब उसका सिर्फ़ इतना ही मतलब समझना चाहिये कि उसके पास मनुष्यत्व या मानवी स्वभावसे सम्बन्ध रखनेवाली कच्ची सामग्री अधिक है।

१४. मनुष्य का जीवन-संघर्ष प्रकृति और परिस्थिति के साथ है, सजातीय के साथ नहीं। दया, स्नेह, आदि मानवीय गुण इस बात के गवाह हैं।

१५. एक मानव हृदय दूसरे मानव हृदय की पुकार को अधिक समय तक कदापि अनसुनी नहीं कर सकता।

१६. जिस प्रकार जलका धर्म अपना समतल ढूंढना है, उसी प्रकार मनुष्य के हृदय का धर्म अपना समएक्य ढूँढना है।

१७. किसी मनुष्य की बाह्य आकृतिसे ही विश्वास न कर लेना चाहिए। जो बाहर से बहुत अच्छा मालूम होता है उसी पर ज़्यादा संदेह किया जाता है।

१८. मनुष्य अच्छे हो सकते हैं, पर यह कोई ज़रूरी नहीं कि उनकी सन्तान भी अच्छी ही हो। मनुष्य कुछ बातोंमें अच्छे होसकते हैं,पर सभी बातोंमें आवश्यक रूपसे अच्छे नहीं हो सकते। एक मनुष्य जो एक बात पर प्रमाण माना जा सकता है, हर बात पर नहीं माना जासकता।

वीरात्मा ।
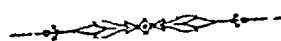
१. बलवान वही है, जो अपने बलका दुरुपयोग नहीं करता । बल्कि वह अपनी ही इच्छासे दुरुपयोग को त्याग देता है और त्याग भी इस हद तक कि वह दुरुपयोग करने के लिए अशक्त होजाता है ।

२. वीरता और आत्म-त्याग को किसी का संहार करने की ज़रूरत नहीं रहती ।

३. अपनी भावी सही-सलामती को खतरे में डाल कर भी इन्साफ़ करने की जिनमें हिम्मत है, वही वीर है और मनुष्य है ।

४. वीर्यवान (वीर) आत्मा, जिस स्थान में एक बार पराजय होजाता है, उसी स्थानमें विजय प्राप्त करने की आकांक्षा वाला हो जाता है ।

५. जो आत्मा, जब तक याचना की प्रत्येक अभिलाषाको पराजय करदे, इतनी शक्ति प्राप्त करके याचनाके भारी से भारी आकर्षण के स्थान पर भी अर्पण करने को तत्पर न हो जाय, तब तक वह आत्मा सत्वहीन गिनने योग्य है ।

६. जो मनुष्य अपने धैर्यका स्वामी है, वह सब वस्तुओं का स्वामी है ।

७. प्रतापी पुरुष का पतन भी एक दिव्य दृश्य है।

८. सभ्य योद्धा में जब सम्पूर्ण बल का विकाश होजाता है, तब वह पूरे तौर पर नम्र हो जाता है। उस अवस्था में वह विनय को छोड़ता ही नहीं है ।

(९)

तेजस्वियों के विघ्न सारे, दूर होते आप ही ।
कर्त्तव्यके वश विज्ञ जन, क्या क्या नहीं करते कहो ॥

(१०)

वीर प्रतिज्ञा विश्व में होती असत्य कभी नहीं ।

(११)

जब तक शरीरागार में रहते ज़रा भी प्राण हैं ।
करते समर से वीर जन पीछे कभी न प्रयाण हैं ॥

(१२)

क्या आर्य वीर विपक्ष वैभव देख कर डरते कहीं ?

(१३)

रोक सकता वीर को रमणी स्मरण रण से नहीं ॥

(१४)

त्राण ही करते सदा शरणागतों का वीर हैं।
प्रेम वैर अयोग्य से रखते कदापि न धीर हैं॥

(१५)

होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की।

(१६)

शीलयुत हठ पूर्ण थिरता देखने ही योग्य है॥

(१७)

करते विपक्षी भी सदा गुणगान सच्चे शूर का।

१८. हमारे यहां हिंसा की अपेक्षा क्षमा में और ग्रहण की अपेक्षा त्याग में वीरत्व है।
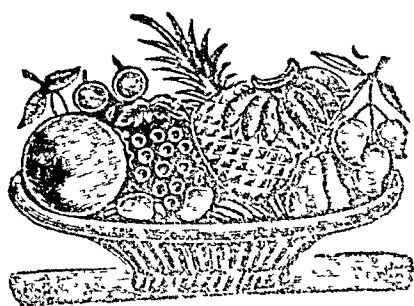
जीवन-जीवन सुधार

१. प्राण देंगे, यह बात कहना जैसे कठिन है, सुख न चाहिये—यह कहना भी उससे कम कठिन नहीं है। पृथ्वी पर यदि मनुष्यत्व के गौरव से सिर उठाकर चलना चाहें तो इन दोनों बातों में से एक बात अवश्य कहनी पड़ेगी। या तो पुरुषार्थके साथ कहे कि "चाहिये" और या पुरुषार्थ के साथ ही यह कहे कि "नहीं चाहिये"। 'चाहिये' कहकर रोवेंगे लेकिन लेने की शक्ति नहीं है। 'नहीं चाहिये' कहकर पड़े रहेंगे—उद्योग न करेंगे। इस प्रकार के धिक्कार को धारण करके भी जो जीते हैं, उन्हें यमराज यदि दया करके इस लोक से हटा न दें तो उनके मरने के लिये कोई उपाय नहीं है।

२. जिनके प्राण हैं, उनकी परीक्षा प्राण देने की शक्ति से होती है। जिसके पास प्राण नहीं है, वही मरने में कृपणता करता है।

३. किसी भी देश में सभी निर्भय होकर स्वेच्छा से नहीं मरते। प्रसन्नता से स्वेच्छापूर्वक मृत्यु को आलिंगन करने वालों की संख्या सभी देशों में थोड़ी होती है।

शेष लोगों में से कोई दल के साथ मरता है, कोई लज्जा के मारे मरता है और कोई रीति रिवाज के लिये मरने को विवश होता है।

४. जीवन स्वभाव से ही रहस्यमय है। जीवन में कई बार आत्माके विरुद्ध, इच्छा के विरुद्ध तथा और भी परस्पर विरुद्ध अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इस तरह जीवन बहुत प्रकार की बातों के सम्मिलन से पूर्ण होता है।

५. आजकल हमने अपने जीवनका उद्देश्य, उदरपूर्ति और अहंकार तृप्ति ही बना रक्खा है।

६. जीवन में यदि बड़े २ जोखमों का सामना न करना पड़े, तो फिर वह धारण करनेके योग्य ही न रहे।

७. वर तीव्र शस्त्र है। बुद्धिमान और वीर उसे लेकर संसार को विजय करते हैं, परन्तु मूर्ख और कायर उस की तेज़ धार से ज़ख्म खाजाते हैं।

८. जिस प्रकार चतुर वैद्य विष को रसायन बनाकर उससे जीवन-दान देता है, उसी प्रकार बुद्धिमान और वीर काम, क्रोध, लोभ, मोह की रसायन बनाकर अपना जीवन सफल करते हैं।

९. बलवान दुर्बल को क्यों अपने वश में कर लेता

है ? इसीलिये कि दुर्बल को अपना प्राण अधिक प्यारा होता है, इससे वह मरजाने के भय से आवश्यक बल नहीं दिखा सकता।

१०. जो अपने मोक्ष (स्वाधीनता) के लिये मरना जानता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है। बिना इच्छा के मरने वालों को अवगति प्राप्त होती है।

११. वृद्धि, परिपक्वता और विस्तार को जीवन कहते हैं।

१२. जन्म और मरण ये दोनों भिन्न २ दशायें नहीं हैं, बल्कि एक ही दशा के दो भिन्न स्वरूप हैं। हमें न मृत्यु से दुःखी होने की ज़रूरत है और न जन्म से खुशी मनाने की।

१३. तुम सदैव इस बातका शोक न करो कि तुम्हें हर्ष प्राप्त नहीं है। तुम अपने आपको दुखवी मत समझो, क्योंकि संसार में एक तुम्हीं दुखिया नहीं हो, प्रत्युत तुम से भी बढ़कर और दुखिया हैं।

१४. जीवन का चरम लक्ष यह नहीं है कि सकाम कर्म के द्वारा उस धनको जमा करना, जो केवल कुछ समय तक भोगा जासकेगा। बल्कि निष्काम कर्म के द्वारा अनन्त काल स्थायी सुख प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष है।

१५. जहाँ जीवन है, वहां बाहर की चीज़ को खींच कर अपना लेता है और जहाँ मरण है, वहाँ खुद भी सौ टुकड़े होकर इधर उधर गिर पड़ता है।

(१६)

जो योग पाकर भी उसे उपयोग में लाते नहीं।
सामर्थ्य पाकर भी किसी को लाभ पहुँचाते नहीं॥
मनुज होकर इस तरह रखते सदा अविचार हैं।
धिक्कार है धिक्कार है धिक्कार है धिक्कार है॥

१७. कुछ भी धर्म से अलग नहीं है। अगर धर्म सच्चे सुख का उपाय है तो मनुष्य-जीवनके सब अंश का ही धर्म पर चलना उचित है।

१८. कर्म और ज्ञान के सिवाय मनुष्य के जीवन में और कोई फल नहीं है।

१९. गति शीलता ही तो जीवन है।

२०. जिन लोगों को ग़रीबों के जीवन का पता नहीं है, उन्हें यही पता नहीं है कि जीवन क्या है?

२१. लक्ष्यहीन जीवन सदा सुखहीन होता है।

(२२)

जीता कहाँ है वह कि जिसको, ध्यान अपना कुछ नहीं।

परोपकार सेवा

१. इस संसारको ऐसा बना दो कि इस में उपकार का प्रत्युपकार तो क्या देखा जाय, परन्तु पर उपकार को स्वीकार करने वाला तक दिखाई न दे।

२. क्या तुम्हारे अन्दर निष्काम (निः स्वार्थ—अनासक्त) भाव है? यदि है तो तुम बिना किसी धर्म-पुस्तक को पढ़े भी धर्मात्मा हो। तुम चाहे देव-मन्दिर में जाओ या न जाओ, कर्मयोग में इस की आवश्यकता नहीं। केवल तुम्हारा हृदय-मन्दिर ही उपासनालय है।

३. अगर तुम किसी को ऊपर उठाना चाहते हो तो इस तरह खड़े होओ कि उसके पैरोंके बराबर तुम्हारे कंधे हों, तब बड़ी सरलतासे तुम उसे ऊपर उठा (उद्धार कर) सकोगे और यदि तुम पतित के सिर पर खड़े होकर नीचे झुक कर उसकी चोटी पकड़ कर उठाना चाहोगे तो निश्चय ही गिर पड़ोगे।

४. परोपकार करने के लिये सब का जन्म नहीं हुआ है। उपकार न कर सकना कोई लज्जा का विषय

नहीं है। लज्जाका विषय तो है परोपकार करने की शक्ति रहते परोपकार न करना।

५. माता पिता होते हैं, पुत्र होते हैं, भाई होते हैं, स्त्री होती है और इस दृढ़ समाज शक्ति की प्रतिक्रिया के कारण बहुतेरे वैरागी और सन्यासी भी होजाते हैं, परन्तु इस वृहत् संसार का सेवक विरला ही होता है।

(६)

तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः ।
ग्रासो भूत्वा पशून्पाति भीरून्पाति रणाङ्गणे ॥

अर्थ—दूसरे का उपकार न करने वाले से तृण अच्छा कि जिससे पशु पेट पालते हैं और रणक्षेत्र में भयभीत हुए मनुष्य उसे मुखमें लेकर शत्रुओं से अपने प्राण तो बचा लेते हैं।

७. यदि तुम्हारी प्रबल इच्छा है कि हम परोपकार करें, तो तुम पहिले अपने में मनुष्यत्व प्रगट करो— स्व उपकार करो। फिर देखोगे कि—परोपकार स्वयं होता जायगा। तुम्हारे मनुष्यत्व को देखकर दूसरों का मनुष्यत्व स्वयं जागृत होजायगा।

८. और बातों की अपेक्षा हम स्वयं भले बनकर दुनियाँ का बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं।

(९)

छोड़ न देना जिसे उठाना ।
गये हुए को फिर लौटाना ॥

(१०)

दीन सबन को लखत है दीनहिं लखै न कोय ।
जो रहीम दीनहिं लखै दीनबन्धु है सोय ॥

११. वही सेवा सर्वोच्च होती है, जो केवल सेवा के लिये ही की जाती है ।

१२. वह मनुष्य सचमुच अभागा है, जो इस सुन्दर मनुष्य लोक में लाने वाले माता पिता की सेवा से वंचित है ।

१३. कोई मनुष्य अथवा समाज तुम्हारी प्रारम्भ की हुई सेवा को स्वीकार न करे—क़दर न करे—तो समझो कि वह तुमसे और भी अधिक सेवा की ज़रूरत रखता है ।

१४. तेरे पाससे जिस प्रकार की सेवा मांगने आये उस प्रकार की नहीं, किन्तु जिस प्रकार की सेवा उसे वास्तव में हितकर हो, वही सेवा (सहायता) करनी चाहिये ।

१५. खरी सेवा वह है कि जिससे सेवापात्र बैठा-खाऊ (हरामख़ोर) न बने ।

१६. की हुई सेवा के फल की स्पृहा मत रक्खो—आभार न मानने पर दुःखी मत होओ। याद रक्खो कि तुमने शरीर की नहीं आत्मा की सेवा की है और आत्मा, आत्मा की वाणी अवश्य समझता है।

१७. सेवा करने में दूसरे की अधिक शक्ति देखकर कुढ़ो मत, बल्कि प्रसन्न होओ कि ऐसा भी पुरुष विद्यमान है जो कि उन लोगों की सहायता कर सकता है जिनको हमारी परिमित शक्ति सहायता नहीं पहुँचा सकती।

१८. प्रेम से उतर कर सहानुभूति ही मानुषिक हृदय का सब से अधिक दिव्य भाव है।

१९. प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक मनुष्य की सेवा नहीं कर सकता, किन्तु प्रत्येक मनुष्य ऐसे काम में मदद कर सकता है, कि जो सब की सेवा करने वाला हो—जिस का फल सबको मिलता हो।

२०. तमाम प्राणियों में परम आवश्यक एकता के अनुभव से अपने आप जो कृति हो, वही परोपकार है।

२१. परोपकारादि कर्म मात्र स्व-आत्मा विशुद्धि के लियेही आवश्यक हैं। इसके सिवाय कर्म करने में दूसरा कोई भी हेतु नहीं है।

२२. क्या कहा, क्या यह कहते हो कि हम परोप-

कार क्यों करें ? जाने दो—मत करो, परन्तु स्व-उपकार तो करोगे ? जैसा व्यवहार तुम दूसरों से अपने लिये चाहते हो, वैसा व्यवहार तो दूसरों के साथ करोगे न ? यदि स्वउपकार करना है तो ऐसा तो करना ही होगा।

२३. यदि तुम अपने प्राप्त सुखों को दूसरों के लिये त्याग (दे) सकते हो तो सचमुच तुम्हारा जीवन तपस्वी जीवन है।

२४. परोपकार में इतना गहरा सुख है, कि बुरी श्रेणीके इन्द्रिय परायणपुरुष, सबसे बढ़कर सुन्दरी स्त्री के पाने पर भी उतना गहरा सुख अनुभव नहीं कर सकते।

२५. पेटू दिन में दो चार बार खा सकता है, इसी तरह इन्द्रिय परायणों के भोग की भी उसी तरह सीमा है, किन्तु परोपकार घड़ी २ में, क्षण २ में किया जा सकता है। मरते दमतक इस का अनुशीलन जारी रह सकता है।

२६. परोपकारी के नाम से आज कौन मख्यात है ? वही मनुष्य जो अपने आश्रितों का या खुशामदियों का उपकार करता है। वृत्ताकार तोंद फुलाकर चारों ओर नौकरों और खुशामदियों को बैठाकर जो व्यक्ति शनिश्चर ग्रह की नाईं विराज रहा है, जिसकी उदारता की सीमा

उसके उदरके चारों ओर ही तक समाप्त है, आज वही तो हमारी दृष्टि में महान् है।

२७. जो औरों की सेवा करता है उसके हृदय में ईश्वर अपने आप अपनी गरज़ से रहता है।

समाज-संगठन

और सामाजिक स्वतंत्रता।
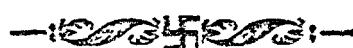
१. जीवन का आदर्श जितना उच्च रहे, समाज के लिये वह उतना ही भलाई का कारण है।

२. यह सच है कि समाज जो सज़ा देता है वह राज्य की सजा से कड़ी नहीं होती, परन्तु उसका असर मन और आत्मा तक पहुँचता है।

३. हिन्दू समाज के बहुत से नियम एक दूसरे से बँधे हुए हैं। एक के तोड़ने से दूसरे भी टूट जाते हैं।

४. यह एक बड़ी भारी ज़बरदस्ती की युक्ति है कि जो हमें अच्छा लगता है, वह चाहे जिस तरह से हो, दूसरों को भी अच्छा लगना चाहिये। मालूम होता

है कि हमने इस ज़बरदस्तीकी युक्तिसे समाजमें चारों ओर केवल दुःख विस्तार करने का निश्चय कर लिया है।

५. समाज की अच्छी अवस्था तभी हो सकेगी जब कि व्यक्तियों से उनकी प्रकृतियों के अनुकूल काम लेने की अथवा उन्हें उपयुक्त स्थान मिलने की व्यवस्था की जावेगी।

६. जो समाज में रहना चाहते हैं वह समाज की सेवा करने के करारपत्र पर सही करने को बँधे हुए हैं।

७. समाज एक ऐसी संस्था है जो कि मानुषिक मनोरथ को सरलता पूर्वक पूर्ण करा देने में समर्थ है।

८. वही समाज फूले फलेगा कि जिसकी नीति और रीतियों का सङ्गठन तमाम व्यक्तियों की प्रकृति के अनुकूल होगा।

९. समाज का सङ्गठन मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा के लिये है। भारत का समाज-बन्धन नदीके तट-बंधन के समान है, बाँध के समान नहीं। जोकि समाज को वेग देता है, रोकता नहीं।

१०. रीति और नीति का आधार बहुत आदमियों की रुचि है।

११. गुण गाओ उन पुराण पुरुषोंका कि जिन्होंने

समाज के आदर्श इतने उच्च बनाये, कि जिनके कारण आज तुम्हारा अस्तित्व क़ायम है।

१२. जो आदमी, चाहे वह नगण्य ही क्यों न हो, जिस समाज का है, उसके व्यवहारोंका कुछ न कुछ असर समाज पर अवश्य ही पड़ता है।

१३. शुभ आशय वाली सभी सख़्तियां सामाजिक सुख का मार्ग हैं।

१४. जीवन कलहसे रक्षित रहनेके लिये—परस्पर का सुख बढ़ाने के लिये—ही समाजव्यवस्था का जन्म हुआ है।

१५. तत्वज्ञानी, योद्धा, व्यापारी और सेवक इन चार वर्ग के बिना समाज सु व्यवस्थित नहीं हो सकता।

१६. स्वतन्त्रता का यह उद्देश्य नहीं है, कि उसे पाकर कोई खो बैठे। हित साधन के लिये ही स्वतन्त्रता दी गई है। समाज जब देखे कि व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपयोग अहितकर कार्यों में कर रहा है तो उसे फ़ौरन दी हुई स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करना उचित है।

समाजसुधार-सुधारकनेता
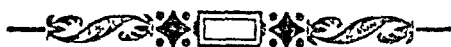
१. सामाजिक कुरीतियों के कारणोंका पता लगाकर उनका नाश करो। केवल उनसे उत्पन्न बुराइयों के मेटने से क्या होगा?

२. समाज की गठन को तोड़ डालने का पाप लेना बुरा है। समाज के सङ्गठन में हमारी समाज को जो २ कठिनाइयां उठानी पड़ी हैं, आजकल के मनचले सुधारक उनका अनुमान भी नहीं कर सकते। समाज तोड़कर रख देने की वस्तु नहीं है, ज़रा विचार करो और सोचो! पवित्रता और स्वाधीनता के जो भाव पुनः जागृत होने लगे हैं, कदाचित् यह समाज सङ्गठन का ही परिणाम हो।

३. मनुष्य जाति की भलाई करने की इच्छा से किसी काम को आरम्भ करने के पहिले इस बात पर अच्छी तरह विचार करलो कि कहीं हम गलत रास्ते पर तो नहीं जारहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि हमारे द्वारा समाज को पहिले से भी अधिक हानि पहुँचे।

४. दूसरों के लिये ही जब लिखने बैठे हो तो फिर लेख ऐसा लिखो कि जिससे अज्ञानी ज्ञानी होजाय और

दुःखी को सुख की आशा बंध जाय। ऐसा न लिखो कि गिरता हुआ और गिर जाय, दुःखी अधिक दुःखी होजाय, थोड़ी बहुत आशा पर जीता हुआ सर्वथा हताश होजाय और पापी निर्भय होकर पाप को प्रगटरूपसे करने लगे।

५. वह लाखों सुधारकों से श्रेष्ठ है जो एक अनाज के दाने की जगह दो दाने पैदा करने की तरकीब निकाल कर दुनिया को दे।

६. सुधारक! तू पहिले अपनी अन्तरात्मा का अनुभव करने वाला बन! फिर विचार कर और फिर कार्य कर!

७. मानव जाति तुम्हारी परवाह उस समय तक न करेगी, जब तक कि तुम यह न दिखादो कि तुम उस की परवाह करते हो।

८. जिसमें जोड़ने की शक्ति का अभाव है, तोड़ने का प्रयास उसके लिये मृत्यु स्वरूप है।

९. जिस मनुष्य का, गुप्त अवयव और जिव्हा इन दोनों पर काबू नहीं है, वह सच्चा विजयी, महान् पुरुष, विचारक, समाज नेता, अथवा योगी होने के योग्य नहींहै।

१०. तुलना शक्ति, दीर्घ दृष्टि, अटूट आत्म-विश्वास

और सम्पूर्णतया आत्म-योग देने की तत्परता, ये नेता के गुण हैं।

११. जिस प्रजामें मनुष्य-प्रतिष्ठा के लक्षण का अभाव है, उस प्रजा में राज सत्ता के बिना सुधार नहीं हो सकता।

१२. कोई भी हितकर, किन्तु नई बात—नई व्यवस्था—को समाज स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करती है। सुधारक व्यक्ति के असाधारण बल के दबाव से ही समाज में सुधार होता है।

१३. सुखवादी सुधारक! क्या तू मनुष्य की कर्मभूमि को भोगभूमि बनाने की चिन्ता में है? भाई माफ़ कर। इसे तो कर्मभूमि ही रहने दे, भोगभूमि और दूसरी है।

१४. नेता, तर्क या नियम का पूजक नहीं, किन्तु इच्छा शक्ति का ही पुजारी होता है।

१५. नेता वही है जो सबसे अधिक सेवा करे।

१६. यदि मैं दुनियाँ को खुश करना चाहूं तो, दुनियां को नुकसान ही पहुँचेगा।

१७. जिस मनुष्य ने जितने प्रमाण में अपने ऊपर काबू कर लिया है, उतने ही प्रमाण में वह दूसरों पर काबू कर सकता है, अधिक नहीं।

१८. तुम जैसे नई कीर्ति स्थापित करने के लिये व्यग्र हो, वैसे समाज की गति देखने में और उसकी आलोचना करने में मन क्यों नहीं लगाते ?

१९. जिस सुधारक को यह देखकर कि मेरे उपदेश को लोग ग्रहण नहीं करते, सन्ताप होता हो, उसे जगत में से कूंच कर देना चाहिये ।

२०. वे हमारे सुधारक नहीं, जो हमारे साथ मधुर मञ्जुल सम्भाषण करके हमारे कलुषित चित्त में घिरी हुई भीमांधकार की घटा को हटाकर उसमें उत्साह और विवेक की विमल ज्योति जगमगाना नहीं जानते और जो हम सरीखे निपट दरिद्र के शुद्ध अगाध हृदय में बैठ कर वहाँ पर बिखरे हुए मोती उठाना नहीं जानते !

२१. हमारा सच्चा नेता वही है जो हमारे साथ रहते हुए आगे की ओर निगाह डाल सकता है ।

२२. जो नीचों में रहकर ऊंचे आदर्श रखे वही हमारा नेता हो सकता है ।

२३. नेता की श्रेष्ठता केवल इस बात में है कि वह उस आदर्श को पहिले देखता है जिसको कि हम पीछे से देखेंगे ।

२४. जिन की कल्पनाशक्ति मन्द है उनको दूरकी

नहीं, किन्तु उसी जाति की नज़दीक की तृप्ति बताओ। भले ही वह थोड़ी मात्रामें हो। तब तो तुम्हारा प्रयत्न सफल होगा, अन्यथा व्यर्थ होगा।

२५. जो दुनिया की निन्दा सहन नहीं कर सकता वह स्वयंसेवक अथवा नेता नहीं हो सकता।

२६. सिर्फ़ खुद भले बन जाओ, यही तो समाज सुधार है।

२७. देश का नैतिक तथा राजनैतिक पुनर्जीवन, धर्म-प्रचार और धर्म-राज्य का संस्थापन है। यह होने से समाजसंस्कार आप ही हो जाता है। इस के हुए बिना समाजसुधार कभी नहीं होता है। हम यह नहीं जानते हैं, इसी से समाजसुधार को एक भिन्न वस्तु समझकर गड़बड़ मचाते हैं। नाम की भूख ही इसका कारण है। सुधार का ढङ्ग कहीं अङ्गरेज़ी हो तो बस पांचों उङ्गली घी में हैं। जिसके कुछ काम नहीं है, उसे ही धूम धड़ाका पसन्द होता है। सुधार से और चाहे कुछ न हो, पर धूम धड़का ज़रूर होजाता है सुधारकों से प्रश्न है कि धर्म की उन्नति के बिना सुधार किस के सहारे होगा?

२८. यह बड़ी चिन्ता की बात है कि हमारे बीच में पढ़े

लिये किराये के टट्टुओं की एक ऐसी बड़ी तादाद बढ़ रही है जो अपने भाइयों पर मुसीबत और बरबादी लाद कर अपनी जीविका कमाते हैं। इस प्रकार भारतवर्षकी विद्या और बुद्धि देशवासियों के लिये सुखदायक और बल-दायक न होकर उनका हनन कर रही है। विद्या और बुद्धि का इस प्रकार बेचना उतना ही निन्दनीय है, जितना कि एक खूबसूरत औरत का अपनी खूबसूरती की तिजारत करना। बुद्धि को समाज और देश की उन्नति करने में लगाना चाहिये। क्योंकि यह एक ऐसा ताकतवर और जबरदस्त हथियार है कि यदि किसी ने निज स्वार्थों और मन्तव्यों के सम्पादन करने में इसका दुरुपयोग किया तो, समाज को चकनाचूर करके व्यक्ति-योंमें सिर फुटव्वल करवा देता है और शताब्दियों की सामाजिक उन्नति को नष्ट कर देता है। बुद्धि-बलधारी पुरुषों को चाहिये कि वे अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कदापि न होने दें। क्योंकि बुद्धि के उपयोग और दुरुपयोग से ही उनका जीवन संसार के लिये आशीर्वाद या शाप के तुल्य हो सकता है। वर्तमान भारत दौलत के लिये दीवाना हो रहा है और इस असर से विद्वान भी अपने आपको नहीं बचा सके हैं। उनको उचित तो यह

था कि सत्य और न्याय के प्रचार में अपने आप को न्योछावर कर देते, किन्तु इसके विरुद्ध बहुतों ने अपने को असत्य और छल की फौज में भरती होजाने दिया है। इन वैतनिक सेवकों के बिना धनी लोग एक दैत्य का बल रखते हुए भी किसी को हानि नहीं पहुँचा सकते। भारत के बुद्धिमान और विद्वान, धनवानों और अभिमानियों के द्वार पर रोटी के टुकड़े मांगने को तत्पर हैं, किन्तु ग़रीब और निर्बल पीसे जा रहे हैं।

सफलता ।
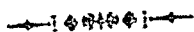
१. क्रमशून्य कार्य निष्फल होता है ।

२. उच्च साधना कभी निष्फल नहीं जाती ।

३. यदि महान् उद्देश्य में सफलता चाहते हो तो महान स्वार्थों का त्याग करो । जितना ऊंचा चढ़ना हो उतनी ही ऊंची सीढ़ी चाहिये ।

४. शंका और भय यह उद्देश्यपूर्ति के मार्ग में दो कंटक हैं ।

५. जो मनुष्य आत्मसंयम में तत्पर रहता है, वह उस वस्तु को अवश्य प्राप्त करेगा जिसमें कि वह मन लगाता है ।

६. हथियार से ज़्यादा ज़रूरत हिम्मत की है ।

७. बहाना मत करो ! तुममें शक्ति है, इच्छा नहीं है ! विवेक है, उद्यम नहीं है । अन्यथा सफलता अवश्य प्राप्त होती ।

८. यदि सफलता चाहते हो तो धीर वीर बनो । जीवन संग्राम है,—सुसराल नहीं है । बाधा और विपत्ति आकर सदा जीवन के मार्ग को दुर्गम बनाते रहते हैं ।

९. आशा और उत्साह मनुष्य को सार्थक नहीं कर सकते। इन्हें विशेष काममें प्रयुक्त करना पड़ता है, तबही फल लाभ होता है।

१०. सभी सिद्धियों का साधन है एकाग्रता।

११. सिद्धि इच्छानुसार नहीं, साधन के अनुसार होगी। विष पीकर यदि कोई न मरने की इच्छा करे तो क्या वह नहीं मरेगा ?

१२. निष्ठा पूर्वक प्राणपण से त्याग स्वीकार करने में ही यथार्थ कार्य सिद्धि है।

१३. इस संसार में केवल इसी बात से कोई काम सहज नहीं हो जाता कि हम उस काम के होने की इच्छा करते हैं और हमारी इच्छा अन्यायमूलक नहीं है।

१४. सफलता के इच्छुकों ! पहिले तुम अपना लक्ष निश्चित (प्रत्यक्ष) करो और फिर कर्मक्षेत्र में उतरो। अन्यथा तुम्हारी दृष्टि कठिनाइयों पर जा पड़ेगी, तुम्हारी हार्दिक रुचियाँ चञ्चलता के तप्त झोंकों से मुरझा जावेंगी, तुम्हारे विचार एक विशेष केन्द्रपर स्थित न हो सकेंगे और इर्द गिर्द के प्रभावों से अपने लिये हितकर सामान नहीं चुन सकेंगे।

१५. हमारा ध्येय हमारे ही हाथमें है। यदि हम उसे

प्राप्त करना चाहें तो कोई शक्ति हमें रोक नहीं सकती और प्राप्त न करना चाहें तो कोई शक्ति हमें दे भी नहीं सकती।

१६. कोरी बाह्य-स्थिति सुधार लेने से कुछ न होगा जब तक कि आन्तरिक स्थिति सुधार लेने की हिम्मत तुम में नहीं है।

१७. भावुक बनो! प्रत्येक घटना के पर्दे तक पहुँचने की चेष्टा करो। यदि यह गुण तुम में आ गया तो फिर तुम्हारे ठगे जाने का भय नहीं है।

(१८)

होगी सफलता क्यों नहीं—
कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ रहो।

(१९)

क्या कार्य दुष्कर है भला यदि इष्ट हो हमको कहीं।
उस सृष्टि करता ईश का ईशत्व क्या हम में नहीं?

(२०)

उपकरण से क्या? शक्ति में ही—
सिद्ध रहती सर्वथा।

२१. आदर्श चाहे जितना बड़ा हो, यदि हम उस को उपलब्ध करना चाहते हैं तो हमें पहिले एक निर्दिष्ट

सीमाबद्ध जगह में हाथ डालना होगा। वह क्षुद्र हो या दीन हो, उसे लांघ जाने से काम नहीं चलेगा। दूर को निकट करने का एक मात्र उपाय, निकट से उस दूर तक जाना ही है।

(२२)

है दुःसाध्य उसी को जंचता—
जिसके जी में चाह नहीं।

(२३)

क्या न असम्भव उन्हें जंचेगा—
जो जीते ही मरते हैं।

स्वतंत्रता परतंत्रता अधिकार
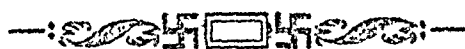
१. प्रत्येक मनुष्य को उतनी ही स्वतंत्रताके उपभोग करने का अधिकार है, जिस से कि किसी दूसरे को नुक़सान न हो।

२. दूसरों के सत्वों की रक्षापूर्वक अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना ही सामाजिक स्वतंत्रता है।

३. प्रत्येक मनुष्य को अपनी चीज़ों का ऐसा उपयोग करना चाहिये कि जिससे किसी दूसरे को हानि न पहुँचे।

४. किसी भी विषय में मत स्थिर करने का तथा स्थिर किया हुआ मत प्रगट करने का मनुष्यमात्र को हक़ है।

५. दुनियाँ में रहकर कोई भी मनुष्य, दूसरों को हानि पहुँचाये बिना स्वच्छन्दता के साथ वर्ताव नहीं कर सकता। इसी लिये स्वच्छन्दता पर अंकुश रखा गया है।

६. किसी को अपनी राय प्रकाशित करने से रोक देना मानो मनुष्य जातिके सर्वस्वको लूट लेना है। क्यों कि यदि राय सच्ची हो तो झूंठ को छोड़ कर सत्य को

स्वीकार करने का मौका जाता रहता है और यदि राय झूठी हो तो सत्य के ऊपर अनगाढ़ यक़ीन होने के लाभ से हाथ धोना पड़ता है।

७. हर आदमी को अपनी राय ज़ाहिर करने के लिये स्वाधीनता देना उतने ही महत्वकी बात है, जितनी कि उसे उस राय को क़ायम करने के लिये स्वाधीनता देना है।

८. ऐसी बहुतसी जंची हुई बातें हैं, जिनसे समाज के हित होनेकी विशेष सम्भावना रहती है। वे हर आदमी से बलपूर्वक कराई जा सकती हैं। अर्थात् जिस समय जो काम करना आदमी का धर्म है—कर्तव्य है—और जिसे न करने से समाज की हानि हो सकती है, उसके लिये व्यक्ति सदा ज़िम्मेदार है।

९. यद्यपि संसार में रहकर बहुत दफ़े अपनी स्वतंत्रता को कम कर देने की—प्रतिबन्ध करने की—ज़रूरत पड़ती है, तथापि उसको बिलकुल ही बेच देने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

१०. यदि हममें बुरी आदत है तो हमें चाहिये कि हम किसी भले आदमी की आधीनतामें रहना, स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करें।

११. जो अपने क़ाबू में नहीं रह सकता, उसे दूसरे के क़ाबू में रहने का मौक़ा आता है।

१२. जिस काम से किसी व्यक्ति (चाहे कुटुम्ब का ही क्यों न हो) या समाज की कोई निश्चित हानि होती है, या होने का निश्चित डर रहता है, वह काम व्यक्ति विषयक स्वाधीनता की हद के बाहर चला जाता है और क़ानून या नीति की हदके अन्दर आ जाता है। जैसे ऐसा कोई काम जो सभ्यता के विरुद्ध हो, उसकी गिनती दूसरों से सम्बन्ध रखने वाले अपराधों में हो जाती है।

१३. मनुष्य परिस्थिति देशकाल के आधीन है, फिर भी उसे कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है जिसकी कि उसे रक्षा करनी चाहिए। धर्म और अधर्मको जानकर उनमें से जो पसन्द हो गृहण करने की स्वतन्त्रता मनुष्य को है। मनुष्य को यह कभी प्रतीत न होना चाहिये कि उसे स्वतन्त्रता नहीं है, परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि किसी कार्य करने की स्वतन्त्रता अपना रूप बदल कर कर्तव्य कहाँ बन जाती है। अवशता और परवशता की सीमा बहुत ही सूक्ष्म है।

एकता भिन्नता विरुद्धता

१. हम आपस में हृदय से मिलने के लिये आये थे, परन्तु अपनी दीनता के कारण वैसा न कर सके। जिस दिन हम लोग अपने आने का उद्देश्य पूरा कर लेंगे वही दिन हम लोगों का यथार्थ दिन है—वही आनन्द का दिन है।

२. अनिश्चित, अनित्य और नश्यवान वासनाओं की प्रेरणा की परवाह न करके निश्चित, अविनाशी और पूरी विवेक शक्ति की सहायता से विचार करने पर जान पड़ता है कि संसार में मनुष्य का सब से बड़ा उद्देश्य यह है कि बिना परस्पर विरोध के अपनी सब शक्तियों का पूरा २ विकाश अर्थात् विस्तार या फैलाव हो।

३. सम्पूर्ण मनुष्य जाति के हित के लिये हर एक मनुष्य को अपने हित को आकांक्षा कुछ छोड़नी चाहिये। यह होने से ही मनुष्य जाति में मैत्री का भाव स्थापित हो सकता है। इसके सिवाय अन्य किसी भी उपाय से मनुष्य जाति में मैत्री का भाव स्थापित नहीं हो सकता।

(४)

ए ज़ौक़ किसको चश्म हिक़ारत से देखिये ।
सब हमसे हैं ज़ियादा कोई हमसे कम नहीं ॥

(५)

तुलसी जगमें आयके सबसों मिलिये धाय ।
को जाने किस रूप में नारायन मिल जाय ॥

(६)

एका तुम्हारे पास है तो फिर किसी का भय नहीं ।

(७)

हमको तुम्हारी चाह हो, तुम को हमारी चाह हो ।

(८)

मन का मिलन ही मिलन है होती उसी से एकता ।

९. जब जाति का हृदय विभक्त हो जाता है तब उसका बल टूट जाता है, अपना ही अपने को बाधा देने लगता है ।

१०. सभी बड़े अनुष्ठान ऐसे होते हैं कि उनमें बिना पारस्परिक सद्भाव के काम नहीं चलता ।

११. खुशी मनाओ कि महत की बाढ़ आकर हमारे दरवाज़ों को धक्का दे रही है, हमें सब के साथ मिला कर एक होने की प्रेरणा कर रही है । हाय कलयुग

आगया—एकाकार होगया, इस प्रकार जो रो रहे हैं, उन्हें मालूम नहीं है कि हम क्षुद्र थे सो अब वृहत् में मिलकर वृहत् होजायंगे।

१२. विभक्त शक्ति शक्तिहीन होजाता है। संयुक्त होने से वही शक्तिशील बन जाता है।

१३. ईश्वर ने किसी को मालिक और नौकर बना कर नहीं भेजा है। दुनियाँ में मालिक और नौकर का नाता नहीं, किन्तु भाई २ का नाता ही बड़ा रखा है।

१४. भिन्नत्व को उचित सीमा में रखने का नाम साम्य है। भिन्नत्व को नष्ट करके एकत्व की सृष्टि कर देना साम्य नहीं है और न ऐसा करना श्रेयस्कर ही है।

(१५)

ईशस्थ सारी सृष्टि हममें और हम सब सृष्टि में।
है दर्शनों में दृष्टि जैसे और दर्शन दृष्टि में॥

(१६)

सब में समझकर आपको, सब को समझलो आपमें।

(१७)

फूट की जड़ फैलती है, फूट कर पाताल में।

१८. बंधुत्व मनुष्यत्व के साथ नहीं. प्राणिमात्र के साथ होना चाहिये।

१६. मनुष्यत्व के चाहने वालों को प्राणिमात्र से प्रेम करना चाहिये ।

२०. जब बहुतेरे लोग किसी एक काम को करते हैं, तब उसके द्वारा एक सूक्ष्म और अदृश्य परिणाम होता है, जो आसपास फैल जाता है और संक्रामक सिद्ध होता है ।

२१. हम उस वस्तु को प्राप्त करने का ख्याल छोड़ देंगे जिसे कि हम प्राप्त कर सकते हैं, बल्कि हम उस वस्तु को लेने से इन्कार करेंगे जो कि सब लोगों को न मिलती हो । जब तक हमारे जीवन का लक्ष, इस प्रकार न हो जायगा तब तक मनुष्य जाति में शांति स्थापित नहीं हो सकती ।

प्रेम—शुद्धप्रेम ।

१. प्रेम का अर्थ है व्यक्तित्व का परित्याग ।

२. प्रेम की परिस्थिति भौतिक पदार्थों की भाँति नहीं है । व्यापकता के साथ इसकी तीव्रता घटती नहीं वरन बढ़ती ही जाती है ।

३. प्रेम बदला नहीं चाहता ।

४. चाह, प्रेम नहीं है । प्रेम चाहता नहीं है, प्रेमतो अर्पण करता है—देकर सुखी होता है । चाह लेकर सुखी होती है ।

५. स्नेह (मोह) और प्रेममें बड़ा अन्तर है । स्नेह की जड़ विकार में और प्रेम की जड़ विचार में है ।

६. मनुष्य में अनन्त के अनुभव का नाम प्रेम है ।

७. पार्थिव प्रेम प्रतिदान (बदले) की आशा रखता है, किन्तु जिसे प्रणय कहते हैं, वह स्वर्गीय पदार्थ—निष्काम पदार्थ—है । वह पाप के भय से अपने कलुषित होने का भय नहीं रखता, बल्कि सूर्य किरणों की तरह अपने पवित्र तेज से अपवित्र को पवित्र कर लेता है । पवित्र प्रेमका अमृतरस इतना गाढ़ा और मधुर होता है

कि वह प्रतिहिंसा दोष आदि कड़वे तीखे रसों को अपनी मधुरता में एकदम डुबा दे सकता है।

८. गाढ़े प्रेम में एक प्रकार की अकृतज्ञता रहती है। प्रेम के प्रतिफलों का अन्त नहीं है। वह प्रेम की अकृतज्ञता कृतज्ञता की अपेक्षा कहीं बड़ी और मधुर है।

६. जिस प्रेम के लिये शिष्टाचार की ज़रूरत हो, क्या वह प्रेम है?

१०. जब तुम को अपनी पत्नि या पति और पुत्र मित्रादि से प्रेम करने में दुःख या ईर्ष्या उत्पन्न न हो और न स्वार्थ का भाव मनमें आने पावे तब तुम समझो कि तुम्हारा प्रेम सच्चा प्रेम है।

११. प्रेम अगणित सूर्यों से मिलकर बना है। क्या वह छिप सकता है? किसी माता को कहीं यह नहीं कहना पड़ता कि मैं अपने बच्चे से प्रेम करती हूँ। जिस बच्चे को बोलना नहीं आता, वह माता की आँख के सामने देखता है। क्यों? क्योंकि उसमें छिपा हुआ अलौकिक प्रेम है।

१२. प्रेम की परीक्षा तपश्चर्या से होती है। तपश्चर्या का अर्थ है, कष्ट सहन करना।

१३. प्रेम-धर्म को न देश की मर्यादा है न कालकी।

१४. प्रेम वास्तव में भावात्मक (आत्माकागुण) है।

१५. प्रेम का पथ नम्रता है। किसी साधारण से भी साधारण मनुष्य के हृदय में प्रवेश करने के लिये अपने मस्तक को उसके द्वारके मापके अनुसार झुकाना पड़ता है।

१६. क्या तुम किसी को सचमुच प्यार करते हो ? यदि हां तो, क्या तुम उसके लिये मर सकते हो ? यदि नहीं तो मित्रो ! तुम उसे सचमुच प्यार नहीं करते।

१७. धन और प्राणों का रक्षित रहना प्रजा की चरम चरितार्थता नहीं है, चरम चरितार्थता तो है प्रेम। जब हृदय के द्वारा मनुष्य के हृदय पर अधिकार कर लिया जाता है तब धन और प्राण तो वह खुशी २ निछावर कर देता है।

१८. स्नेह और प्रेमबन्ध करके रखने के लिये नहीं होते। उनको बलपूर्वक बाँधकर रक्खा जाय तो वे संसार के लिये रोते हैं।

१९. प्रेम जब जागता है, तब वह शुरू से ही सब कार्य करना चाहता है। छोटा हो या बड़ा वह किसी का तिरस्कार नहीं करता। कहीं कोई कर्तव्य असमाप्त न रह जाय, यह चिन्ता उसके चित्त से कभी दूर नहीं होती।

२०. जो शक्ति जितनी ही उत्तम होती है, वह उतनी

ही सूक्ष्म होती है और मौन रूप से अपना काम करती है। प्रेम संसार में सबसे अधिक सूक्ष्म शक्ति है।

२१. वह प्रेम अन्धा, मूढ़ और स्वार्थी प्रेम है जोकि अविनाशी आत्मा को धारण करने वाले इस कलेवर के कुछ दिनों के लिये अथवा हमेशा के लिये, जुदा होजाने के बाद छूट जाता है।

२२. जिस प्रेम को स्वस्थ्य रखने में केवल सौंदर्य ही समर्थ है, उसकी आयु बहुत थोड़ी होती है।

२३. हमारे उद्धारके लिये पापात्मा और पुण्यात्मा दोनों समान कारण हैं। एक से पाप के परिणाम का और दूसरे से पुण्य के परिणामका ज्ञान होता है। अतः हमें दोनों से प्रेम करना चाहिये।

२४. जब तक हम अर्थों के दास एवम् मन और इन्द्रियों के आधीन होकर अपने लिए काम करते रहेंगे, तब तक सच्चा प्रेम और विश्वास हमारे हृदय में उत्पन्न ही न होगा।

२५. जहाँ प्रेम नहीं वहां जो कुछ किया जाता है वह अपने स्वार्थ के लिये, जिससे परस्पर अविश्वास उत्पन्न होकर ईर्ष्या द्वेष और मत्सरता की वृद्धि होती है।

२६. कर्तव्य से प्रेम बड़ा है। क्योंकि प्रेम विधान देता है, कर्तव्य उस राह से चलता है।

(२७)

जिस पर हृदय का प्रेम होना सत्य और समग्र है।
उसके लिए चिन्तित तथा रहता सदा वह व्यग्र है॥

(२८)

अगर है शौक़ मिलने का तो हर दम लव लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को भसम तन पे रमाता जा॥

२९. सच्चा प्रेम तो वह है जो अपने आपको खपा देता है और फिर भी नहीं चाहता, कि उसका कोई ख़्याल करे।

३०. प्रेम, संसार में प्रबल से प्रबल शक्ति है और फिर भी उसके ऐसा नम्र कोई नहीं है।

३१. प्रेम की मात्रा के साथ साथ नम्रता की मात्रा न बढ़े तो वह प्रेम किसी काम का नहीं।

३२. प्रेम तो आंखों में आसानी से झलक जाता है। उसके लिये अधिक हाव भाव आवश्यक नहीं हैं।

३३. प्रेमकी दी हुई वस्तु न्याय की मर्यादाको लांघ जाती है। और फिर भी हमेशा उस से कम होती है, जितनी कि वह देना चाहता है।

३४. त्याग (किसी के लिये कुछ छोड़ देने) का अर्थ अनुगृह करना नहीं। प्रेम जिस न्याय को प्रदान करता है, वह है त्याग; और क़ानून जिस न्यायको प्रदान करता है, वह है सज़ा।

(३५)

रहो चाहे जहां लेकिन हमेशा खुश रहो साहब।
मुमकिन नहीं तुमको न मेरी याद आवेगी॥

३६. प्रेम एक सक्रिय बल है।
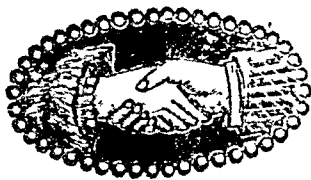
वचन शक्ति

(१)

अग्नि ज्यों आक्षेप का पड़ता विशेष प्रभाव है।
बाण से भी वचन का होता भयङ्कर घाव है॥

(२)

प्रथम सोच विचार कर जो बात है कहता नहीं।
वह बिना लज्जित हुए संसार में रहता नहीं॥

(३)

बोल अमौलिक मोल है, बोल सके तो बोल।
हृदय तराजू तोल कर, पीछे बाहर खोल॥

४, बाण का घाव तो पूरित हो सकता है, पर बाणी का घाव पूरित नहीं होता।

५, मनुष्य का मूल्य मनुष्य के वचन में रहता है।

६, बोलो—इष्ट (मन माना) बोलो, किन्तु मिष्ट बोलो।

७, जो मनुष्य गर्दन काटने के डरसे भी तुम्हारा काम नहीं करेगा, वही मधुर बोलने से चाहे जो काम करने लगेगा।

८. दूसरों के विषय में ऐसी बात कहीं भी मत बोलो जिसे उस आदमी के सामने बोलने में तुम असमर्थ हो। यह भी एक प्रकार का असत्य भाषण है।

मानसिक शक्ति

(१)
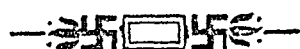
"मारता है बस मनुज को मानसिक संताप ही"।

२. मन का प्रभाव हमारे जीवन का एक रहस्य है। मन पीड़ा भी उठा सकता है और उसकी चिकित्सा भी कर सकता है।

३. शरीर, मनका दास है। शरीर, मनकी कल्पनाओं की आज्ञा मानने को सदा प्रस्तुत रहता है। चाहे वे कल्पनाएं विचार की सलाह से की गई हों अथवा विकारकी सलाह से।

४. जो मनुष्य प्रतिहिंसा प्रवृत्ति के प्रबल प्रलोभन को सम्भाल कर उससे (मनसा वाचा कर्मणा) निवृत्त रह सकता है, उस में शारीरिक बल चाहे जैसा हो, मानसिक बल असाधारण है, इस में कोई संदेह नहीं।

५. हमारी आकृति हमारे मानसिक भावों की पुस्तक है ।

६. हमारे मनमें वह शक्ति वर्तमान है कि हम अपनी आकृति को चाहे जिस रूप में ढाल सकते हैं ।

७. मन में ऐसी शक्ति है कि वह विशेष अवस्था तथा विशेष समय में कठिन को मधुर सुन सकता है ।

८. मनो वेग जब कार्योंके मार्गसे बाहर निकलने का रास्ता नहीं पाता है और भीतर ही भीतर संचित और वर्धित होता रहता है तब वह विष का काम करता है ।

९. मन को मज़बूत पकड़ कर रखना, नहीं तो उस के साथ बुद्धि भी भाग जायगी ।

१०. विकार के कारणों से अलग रहकर नहीं, किंतु उन के बीच में रहकर जो शुद्धता प्राप्तकी जाती है, वही खरी शुद्धता है और उस से शक्ति का बोध होता है ।

(११)

आतङ्कसे पाया हुआ भी मान कोई मान है ।
खिंच जाय जिसपर मन स्वयं, सच्चा वही बलवान है ॥

१२. जो सचमुच शक्तिशाली हैं, वो दूसरों को शक्तिशाली बनाने में ही अपना गौरव समझते हैं ।

१३. बिना शारीरिक शक्ति के आत्मिक शक्ति को

जगह नहीं मिलती। अकेला बुद्धिविकास मनुष्य को बिल्कुल धूर्त और अप्रामाणिक बनाता है। इसी तरह अकेला हृदयविकास मनुष्य को अति दयालु और अन्त में दयापात्र बना देता है।

१४. जहां शक्ति नहीं, वहां भीति है और जहाँ भीति, है, वहां अशान्ति है।

सङ्गीत काव्य-कवि भाषा

१. संगीत टूटते हुए दिल की औषधि है ।
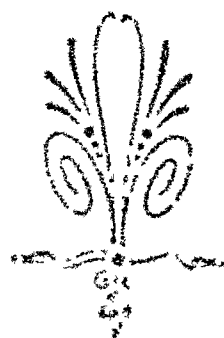
२. सङ्गीत अपने द्वारा ही महान् है । जहां शब्द अटक जाते हैं, सङ्गीत वहीं से शुरू होता है । जो अनिर्वाच्य है, वही सङ्गीत का प्रदेश है । वाक्य जिसे नहीं कह सकता, सङ्गीत उसे बोल बताता है । अतएव सङ्गीत में शब्दोंकी भरती जितनी कम हो, उतनी ही अच्छी है ।

३. सभी गीत एक प्रकार के आनन्द—कोलाहल के समान आरम्भ होते हैं और अन्त में एक गहरी साँसमें मिल जाते हैं ।

४. छन्द सङ्गीत का एक रूप है, अतः छन्द और ध्वनी दोनों मिलकर कविता को ऐसी शक्ति देते हैं कि जिससे भाव में कम्पन उत्पन्न होता है, हृदय चेतन हो जाता है और बाहरी भाषा हृदय की एक वस्तु होजाती है । (सुन्दरता कृत्रिम नहीं है, कृत्रिम तो है भाषा । भाषा मनुष्य की है, सौंदर्य सारे जगतका है और जगत के विधाता का है ।)

५. सभी बड़े २ काव्य हम लोगों को वृहद् की ओर

खींचकर लाते हैं और एकान्त की ओर जाने का संकेत करते हैं। पहिले वे बन्धन तोड़कर निकालते हैं और पीछे वे एक महान् के साथ बाँध देते हैं। प्रातःकाल वे मार्ग के निकट लेजाते हैं और संध्या को घर पहुँचा देते हैं। तान के साथ एकबार आकाश पाताल में घुमा फिरा कर सम (ताल) के बीच पूर्ण आनन्द में लाकर खड़ा कर देते हैं।

६. काव्य का यही प्रधान गुण है कि पाठकों की कल्पना शक्ति को उत्तेजित करदे।

७. पद्य अन्तःपुर है और गद्य बाहरी बैठक है। दोनों के लिये अलग २ स्थान नियत है। कविता छन्दों से घिरी रहने के कारण सहसा उसपर कोई आक्रमण नहीं कर सकता। वह अपने लिये जन साधारण की भाषा से भिन्न, दुर्गम, परन्तु सुन्दर सीमा निश्चित करती है।

८. वही काव्य और वही साहित्य चिरजीवी रहेगा, जिसे लोग आसानी से पचा सकेंगे (न कि मात्र कर सकेंगे)

९. कवि आत्मा का चित्रकार है।

(१०)

"काग़ज़पे रखदेते हैं कलेजा निकालके"। कौन ?—कवि।

(११)

सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना ।

१२. भाषामात्र का प्रयोजन यह है कि बोलने वाले की बुद्धि में जो भाव है, उसका ज्ञान सुनने वालों की बुद्धि में उत्पन्न होजाय।

(१३)

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः ।
परस्य हृदयं लग्नं न घूर्णयति यःच्छिरः ॥

अर्थ—उस कवि की कविता से क्या और उस धनुष-धारी के बाण से क्या जो दूसरे के हृदय में लगकर उसके शिरको न हिलादे ।

१४. कालके अन्त तक कल्पनाशक्ति अर्थात् काव्य मनुष्य के विकाश में अपना उपयोगी और आवश्यक काम अवश्य करता रहेगा ।

१५. काव्य से चित्त विशुद्ध और भीतरी प्रकृति का प्रेमी हाता है । इसलिये कवि, धर्मका प्रधान सहायक है। विज्ञान या धर्मोपदेश मनुष्यत्व के लिये जैसे दरकार हैं वैसेही काव्य भी है । जो तीनोंमें से एकको प्रधानता देना चाहते हैं उन्होंने मनुष्यत्व का असली मर्म नहीं समझा।

प्रसन्नता—हंसमुखता

खुश मिज़ाजी ।

—:✤❀✤:—

१. पाप और शत्रु क्रोध से उतने नहीं मारे जासकते जितने हंसमुख पने से मारे जा सकते हैं ।

२. खुशमिज़ाज मनुष्य अपने और दूसरोंके लिए सुख की वस्तु है ।

३. खुशमिज़ाजीपन मनुष्य का परम मित्र है, क्योंकि वह भारी से भारी विपत्ति में भी जुदा नहीं होता ।

(४)

ज़िन्दगी ज़िन्दा दिली का नाम है ।
मुर्दा दिल ख़ाक जिया करते हैं ॥

५. आगामी की व्यर्थ चिन्ता मत करो । वह मनुष्य बड़ा हत भाग्य है, जो हर घड़ी यह सोचा करता है, कि कल क्या होगा । वह उस घड़ी का आनन्द भी खो देता है, जो उसे प्राप्त है । प्राप्त दिनको इस तरह व्यतीत करो, मानो वह तुम्हारे जीवन का अन्तिम दिन है ।

६. सम्पूर्ण तन मनसे उत्पन्न हुआ अट्टहास, डाक्टरी नुकसे से कम नहीं है।

७. उदासी दुःख का इलाज नहीं है, यह तो औषधि के रूप में हलाहल विष है। उदासी तेरे हृदय से तीर निकालने का बहाना करती है, परन्तु वास्तव में वह तेरे हृदय में गहरा घाव करती है। मुसीबतों के तीरों का अनुभव करना ही तेरा प्रकृत स्वभाव नहीं है, किन्तु कर्तव्य यह है कि योद्धाओं की तरह दुःख का सामना कर।

८. क्या उदासीन मनुष्य किसी महान् या पुण्य कार्य के लिए कमर—हिम्मत—बाँधकर उद्यत होसकता है? यदि नहीं तो मनको दृढ़ करो और उसे भली भाँति समझा दो कि वह प्रसन्न रहे।

९. प्रसन्न चित्त मनुष्य सारा दिन काम करता रहता है—थकावट अनुभव नहीं करता, परन्तु उदासचित्त मनुष्य थोड़ासा काम करके उकता जाता है। किसी काम में कृत कार्यता प्राप्त करने के वास्ते ज़िन्दादिलीकी बड़ी आवश्यकता है।

१०. अपने मन में न तो कुढ़ो, न शोकातुर बनो। यह दोनों मनुष्य को मार डालते हैं।

११. ज़िन्दा दिल मनुष्य अपने और दूसरोंके लिए सुखकी वस्तु है।

१२. यह जो कहा गया है कि साधुओं को दुःख नहीं होता, सो इसका यह अभिप्राय नहीं है, कि उनको दुःख होता ही नहीं है। सत्य यह है कि वे उसे आनन्द से भोग लेते हैं।

सावधानता।
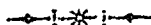
१. जो सावधान रहता है, उसका विनाश नहीं होता।

२. सावधान रहो, कहीं ऐसा न हो कि आपत्ति के समय तुम्हारा मन नपुंसक बन जाय, अन्यथा मानसिक नपुंसकता का कोई इलाज नहीं है।

३. अपने आप को सुधारने के लिये मिले हुए एक भी मौकेको हाथसे न जाने देना, यहीतो सावधानता है।

४. ऐ मानव ! इसके पहिले कि तेरे अधम विचार तुझपर जय पा लेवें, तू उन का सामना कर ! यदि तू उनकी उपेक्षा करेगा और वे जड़ पकड़ कर बढ़ जावेंगे तो याद रख कि वे ही विचार तुझे वशमें कर लेंगे और मार डालेंगे।

५. संसार में सावधानता ही अनेक स्थानों में धर्म समझी गई है।

उत्साह

(१)

होता जहां उत्साह है, होती सफलता है वहाँ।

२. प्रबल मनो विचार, उत्साह का दूसरा नाम है।

३. जिस आदमी में उत्साह की अधिकता है, उसके हाथ से खराब काम हो सकते हैं, परन्तु काम काज से डरने वाले आलसी आदमी की अपेक्षा, उससे अधिक अच्छे काम होने की भी हमेशा उम्मीद रहती है।

४. जो उत्साह खुला हुआ क्षेत्र पाकर स्वास्थ्यकर होता है, वही बद्ध होकर दूषित हो जाता है।

५. जो अच्छे कार्य में किसी को अपने से आगे न बढ़ने दे अर्थात् अपने को किसी के पीछे न रहने दे, वही उत्साह है।

६. असमय में शीघ्रता (उतावल) वेही करते हैं, जिन में दीर्घकाल तक दुःसाध्य उद्देश्य को अटल निष्ठाके साथ सम्मुख रखने की शक्ति (उत्साह) नहीं है।

७. हम सोचते हैं कि उत्साह मनुष्य को निर्भीक बनाता है और निर्भीक होजाने पर वह कर्म मार्ग की

बाधा विपत्तियों से नहीं डरता, परन्तु बाधाओं के सिर पर पैर रखकर आगे बढ़ने की उत्तेजना ही तो कर्म-साधन का सर्वप्रधान अङ्ग नहीं है। स्थिर बुद्धि से विचार करने की शक्ति, संयत होकर निर्णय करने की शक्ति, उससे भी बड़ी है। यही कारण है कि मतवाला मनुष्य हत्या कर सकता है, पर युद्ध नहीं कर सकता। यह बात नहीं है कि युद्ध में मत्तता की कुछ भी मात्रा न रहती हो, परन्तु अप्रमत्तता ही प्रभु होकर उसका सञ्चालन करती है।

प्रतिज्ञा

१. प्रतिज्ञा उस बातकी ली जाती है जिसका और तरह से पूरा कर सकना कठिन होजाता है। जब बहुत कुछ उद्योग करने पर भी हम किसी कार्य को नहीं कर सकते तो प्रतिज्ञा द्वारा हम अपने आपको एक डोरे के भीतर बांध लेते हैं। उस अवस्था में हमारा उससे छुटकारा होना सम्भव होजाता है और फिर असफलता का भय जाता रहता है।

२. प्रतिज्ञा के बिना मनुष्य का क़दम आगे नहीं बढ़ता।

३. प्रतिज्ञा का अर्थ है, मरते दम तक का निश्चय।

४. जोशके प्रभावमें प्रतिज्ञा कर लेना काफ़ी आसान है, पर उसपर कायम रहना—खासकर प्रलोभनों के बीच—महा मुश्किल है।

५. ऐसी प्रतिज्ञायें मत करो जिनका कि पालन तुम नहीं कर सकते हो।

६. एक किसी बात को अन्त तक छिपाने की प्रतिज्ञा करने से बहुत झूँठ बोलना पड़ता है।

७. जो दृढ़मनिश है, वह संसार को अपने साँचे में ढाल लेता है।

(८)

पहिले वचन देकर समयपर पालते हैं जो नहीं।
वे हैं प्रतिज्ञा घातकारी निंदनीय सभी कहीं॥

९. स्वेच्छा पूर्वक की गई प्रतिज्ञा थर्वईकी उस डोरी की तरह है जो कि मनुष्यको हमेशा सीधे रास्तेपर रखती है और ग़लत रास्ते जाते ही चेतावनी देती है।

१०. प्रतिज्ञायें और व्रत की आवश्यकता दृढ़ से दृढ़ मनुष्य के लिये भी रहती है।

११. सर्वसाधारण व्यवहारके नियम वह काम नहीं देते, जो कि व्यक्तिगत व्रत या प्रतिज्ञायें देते हैं।

१२. लेखी प्रतिज्ञा मनुष्य को समय २ पर अपनी प्रतिज्ञा की याद दिलाती रहती है। स्मरणशक्ति बहुत निर्बल वस्तु है, लिखित शब्द चिरञ्जीवी होते हैं।

मित्रता

१. तेरा साथी जल्दी करता है, तो वह तेरा साथी नहीं है ।

२. मित्र मन माना बदला नहीं चाहता ।

३. हंसी दिल्लगी से अपने मित्र की मित्रता खोना मूर्खता है पर जो शत्रु मित्र कुछ नहीं है, उस से हंसी करके शत्रुता करलेना और भी अधिक मूर्खता है ।

४. मित्रता ज़िन्दगी की अनिवार्य आवश्यकता है ।

५. मित्रता स्वविकाश का एक साधन है ।

६. भीरु भीरु में या भीरु और बहादुर में मित्रता हो ही नहीं सकती ।

७. जिस की अवस्था बहुत ही गई बीती हो, उसे बिना बुलाये और बिना आदर के, किसी भाग्यवान के साथ घनिष्टता बढ़ाने के लिये नहीं जाना चाहिये । क्यों कि इस में दोनों का मङ्गल नहीं है ।

अति–अतिरिक्तता
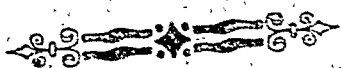
१. 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'

२. जब मनुष्य ज़ियादती करने लगता है, तब उसे और किसी तरह का विचार नहीं रहता।

३. इतनी सज्जनता मत धारण करो, कि जिस से दुष्टों की दुष्टता को खूराक मिलने लग जाय।

४. जो अति सज्जनता धारण कर अपना हक़ बेई-मानों को लेने देता है वह अकेला ही दुःखी न होगा बल्कि सारी समाज को चौपट कर डालेगा और उसका पाप उसे लगेगा।

५. अधिक सन्तोष में दोष है, वैसे ही अधिक आ-कांक्षा में भी अधिक दोष है।

६. अति लज्जा ही, लज्जा को नष्ट कर देती है।

७. आदर अच्छी चीज़ है, वर्षा की जलधारा की तरह पृथ्वी को हरा भरा करता है, परन्तु बहुत अधिक आदर बेहद वर्षा की तरह अपने काम को आप ही नष्ट कर देता है।

सभ्यता—सभ्य

१. आज कल के सभ्य—बाबू—लोग अभावों की वृद्धि को सभ्यता कहते हैं।

२. मनुष्य की विचित्र वृत्तियों से जिसका सामञ्जस्य नहीं है, ऐसा एक हटात् गगनस्पर्शी विशेषत्व भी मनुष्यत्व का आदर्श नहीं कहा जा सकता है।

३. उदरपूर्ति और अहंकार-तृप्ति ही आजकल जीवन का उद्देश्य हो रहा है।

४. सर्वाङ्ग सुगठित राष्ट्र के लिए साधारण (सादा) जीवन एक बहुतही पवित्र अधिकार है। हमें बड़ी सावधानी के साथ समस्त हानिकारिणी शक्तियों से इस की रक्षा करनी चाहिये।

५. जीवनयात्रा की सरलता ही हिन्दुओं की सम्पत्ति है।

६. यदि सभ्यता के सर्वोच्च सिंहासन पर आवश्यकता का ही अभिषेक किया जाय और दूसरे किसी 'प्रधान' की सत्ता स्वीकार न की जाय तो वह सभ्यता

सम्पूर्ण सर्वोच्च सभ्यता नहीं कही जासकती। वह सभ्यता अधूरी है।

७. यदि सभ्यता अन्त में सरलता के साथ सम्मिलित नहीं होगी तो उसे अपने आदर्शकी पूर्णता भी नहीं प्राप्त हो सकती।

८. हम बड़े २ आविष्कार तो नहीं कर सकते, परंतु आरामको पीछे और प्रेमको आगे रख सकते हैं, दूसरों को क्षमा कर सकते हैं, दूसरोंको अपनी जगह दे सकते हैं।

९. जो मनुष्य, नौकर चाकर माल असबाब (चीज़-वस्तु) के सुभीते के आधीन रहता हो उसे बाबू कहते हैं। आजकल यही सभ्य मनुष्य का लक्षण बन गया है।

१०. जीवन यात्रा की सरलता ही हमारे देशकी सम्पत्ति है, बल है, प्राण है और प्रतिभा है।

११. पश्चिम के लोग नये २ भौतिक आविष्कारोंकी धूल से पूर्व के आध्यात्मिक महत्व को छिपा सकते हैं, पर फूंक देकर उड़ा नहीं सकते।

१२. सुगमता सरलता सहजता ही यथार्थ सभ्यता है। इसके विरुद्ध आयोजनों की जटिलता एक प्रकार की बर्बरता है।

१३. यद्यपि मनुष्य की सभ्यताको कृत्रिम की सहा-

यता लेनीही पड़ती है, तो भी इस ओर हमें सर्वदा ही दृष्टि रखनी चाहिये कि कहीं अभ्यास के दोष से ऐसा न हो कि यह कृत्रिमता ही हमारी प्रभु बन बैठे।

१४. पहिले आयोजन कम थे, सामाजिकता अधिक थी। अब आयोजन बढ़ चले हैं, सामाजिकता में घाटा आ रहा है। हमारे देश में एक दिन था, जब हम असबाब–आडम्बर को ऐश्वर्य कहते थे, किन्तु सभ्यता नहीं कहते थे।

१५. यथार्थ सभ्यता उस शक्ति का नाम है जो इंद्रिय जन्य बाह्य सुखोंके बदले उन्नत भावका दृश्य दिखा कर तथा वहां का सुखास्वादन कराकर पशु-भावापन्न मनुष्यों को अतिन्द्रियराज्य में ले जाये।

विकार

१. विकार आग की तरह है, वह मनुष्य को घास की तरह जलाता है।

२. जब मन पर विकार का ज़ोर होता है तब मुँह से उचित-अनुचित सभी निकलने लगता है। अत्यन्त स्वादिष्ट हितकर वस्तु भी वमन में निकल जाती है।

३. जब कठिन प्रसङ्ग में मनुष्यके हृदय में प्रबल वेग से आंधी चलती है, तब यह नहीं सूझ पड़ता, कि विचार कौन है और विकार कौन है।

४. कठिन प्रसङ्ग में मनुष्य के हृदय में जब विचार और विकार ये दो पक्षकार खड़े हो जाते हैं तब अनुभव विचारको और तर्क विकारको सहायता देते हैं—वकीली करते हैं। अनुभव विश्वस्त है और तर्क अविश्वस्त है।

५. विकार के प्रबल दल को हटाने की युक्ति का शोधन, विकार के उदय काल में ही होना उचित है।

६. विकार चेतनको भ्रमित भी करता है और फिर उन्मीलित भी कर देता है।

और वाक्यों में स्वभावतः ही विकलता आजाती है और यही समय है, जब कि अविचलित और विकार रहित सत्य सब से अधिक आवश्यक होता है। असत्य और अर्धसत्य और समयों में हमारा उतना भारी अनिष्ट नहीं करते, पर सङ्कट के समय इनके समान हमारा शत्रु और कोई नहीं होता।

८. मनुष्य कठिन प्रसङ्ग में दुचित्त हो जाता है, इस का यह अर्थ नहीं कि मनुष्यके दो हृदय हैं, परन्तु कठिन प्रसङ्ग में मनुष्य के हृदय में एक तो विचार उठता ही है साथ ही दूसरा विचार भी उठता है, यह अर्थ है।
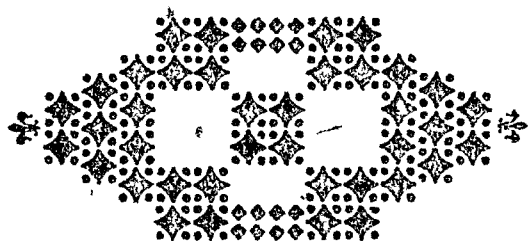
अहंकार
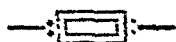
१. अहङ्कार के कारण हमें अपने बड़प्पन पर अति विश्वास रहने से हम दूसरों को ठीक तरह जान हीनहीं सकते। दूसरों को यथार्थ रूप से जाने बिना सफलता मिलना सम्भव नहीं। दूसरोंके विषयमें सम्यक्ज्ञान होना ही हमारा प्रधान बल है। अहङ्कार उसी ज्ञान के विषय में अज्ञता लाकर हमारी दुर्बलता का प्रधान कारण बनजाता है। अहङ्कार दूसरों को हमारे प्रतिकूल खड़ा कर देता है। कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह नाना विषयों में संसार के निकट ऋणी है। जो विनय पूर्वक उस ऋण को स्वीकार करना नहीं चाहता, उसके लिए ऋण मिलना कठिन होजाता है।

२. जो मनुष्य अपने मन्तव्यों को बदलना ही नहीं चाहते, वे सत्य की अपेक्षा अपने आप को विशेष चाहते हैं।

(३)

गिर जाओगे तुरत, करोगे—

यदि मन में कुछ भी अभिमान।

(४)

दिखा न जोशो ख़रोश इतना जोर पर चढ़कर ।
गये जहां में दरिया बहुत उतर चढ़कर ॥

५. कलके ऊपर मत इतरा, क्यों कि तू नहीं जानता कि वह एक ही दिन में क्या का क्या करदे !

६. चढ़ा ऊपरी और लाग डाँटके आकर्षणमें जो जोश उत्पन्न होता है, वह सोचने विचारनेका अवकाश नहीं देता ।

७. एक ऐसा रोग होता है कि उसके कारण मनुष्य जो कुछ खाता है, वह सब शक्कर होजाता है। इसी प्रकार हमारे देशमें भला बुरा जो कुछ है, वह सब एक अद्भुत मानसिक विकार के कारण अहङ्कार के रूप में परिणत हो जाता है।

८. मानव समाजमें बात (अहंता) के कारण जितना रक्तपात हुआ है, उतना ज़र जोरू और ज़मीन के लिये भी नहीं हुआ।

९. मान विष का मूल है।

(१०)

फ़ज़लो हुनर बड़ोंके कुछ तुममें हो तो जानें ।
गर यह नहीं तो बाबा सब कहानियाँ हैं ॥

११. जब तक मनुष्य के मन में अहंभाव मौजूद है, तब तक उसे ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते।

१२. रे मनुष्य! अहमन्यता के वशवर्ती होकर, केवल अपनी चतुराई के सहारे अपने स्वार्थका कैसा भी प्रबन्ध करके जब तक तू मानव धर्मकी अवहेलना करेगा तब तक तेरी बुद्धिमत्ता तेरे ही नाश का कारण होगी।

१३. तुम अपने मनको अपने पास मत रक्खो, उसे तुम्हारे भीतर जो भगवान विराजमान है, उन के चरणों के समीप रखदो। ऐसा करने से अपमान वहां तक न पहुँच सकेगा।

लोभ
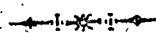
१. लोभी मनुष्य बड़ा भारी धनपति होजाय तो भी दुःखी ही देख पड़ेगा। जितना धन उसके पास है, उस से अधिक धनवाला एक भी मनुष्य जब तक जहान पृथ्वी में रहेगा तब तक वह अपने को निर्धनही गिनेगा।

२. संग्रह कर रखना सियालवृत्ति है, सिंह वृत्ति नहीं। सियाल ही अपने छोटे से उदरके लिये मोटे हाथी के मारने की तृष्णा रखता है। आजके वैश्यों में यह वृत्ति अधिक बढ़ती जाती है।

३. हिंसा, झूंठ, चोरी, व्यभिचार यदि ये पाप हैं तो जीवनोपयोगी वतुओंका अति संग्रह करना भी पाप है। क्या इस से समाज में, दुनियां में विकलता और दुःख वृद्धि थोड़ी होती है?

आवश्यकताएँ

(१)

दौलत की हविस अस्ल गदाई है यह,
सामान की हिर्स बे नवाई है यह।
हाजत कम है तो है शांहशाही,
गर कुछ नहीं हाजत तो खुदाई है यह॥

२. बाहरी पदार्थों को विशेष आवश्यक समझना, जीवात्मा का अपमान करना है।

३. ऐसी चीज़ों को मत अपनाओ जो हमारी प्राकृत शक्तियों को नष्ट कर दें और अपने अभाव में दुःखदाई हों, अर्थात् जो हमारी शक्ति का विकाश तो न कर सकें, किंतु विकार अवश्य कर दें।

४. प्रलोभन की वस्तुके पास रहने पर, समय पाकर, हमारी इन्द्रियाँ विकारों की गुलाम बन सकती हैं।

५. आवश्यकताओं को अधिक आश्रय देकर हमने उनको स्वेच्छाचारी प्रभु बना दिया है।

६. आवश्यकता सत्यका आभासमात्र है। सत्य नहीं।

७. कैसी ही अच्छी वस्तु क्यों न हो, जब तक हमको

उसकी आवश्यकता नहीं होती, तब तक हमारी दृष्टि में उसका गौरव नहीं होता ।

८, संसार के बड़े २ काय आवश्यकताओं से रहित त्यागी ब्रह्मचारियों ने ही किए हैं।

६. आज कल के मनुष्य का मन तो पुस्तकोंसे ढक गया है और शरीर कपड़ों-लत्तों आदि के भीतर छुप गया है। इस तरह जीवात्मा को एक अजीब चीज़ बना कर उसके सारे द्वार बन्द करके स्वच्छ वायु और स्वाधीन बोध-प्रकाश का मिलना रोक दिया गया है। जो सहज है, नित्य है और मूल्यहीन होने के कारण सब से अधिक मूल्यवान है, उन प्रकृत वस्तुओं के साथ न तो मिलना-जुलना रहा, न प्रत्यक्ष परिचय रहा, इससे उन के गृहण करने की शक्ति ही नष्ट होगई है। उनके स्थान में जो चीज़ें उत्तेजना की नई २ ताड़नाओं से उत्पन्न होकर कुछ दिन फ़ैशन की भंवर में पड़कर गँदली हो जाती हैं और इस के बाद ही अनादर और घृणा के किनारे एकत्रित होकर समाज-वायु को दूषित करती हैं, वे फिर २ कर लाख २ गुणी मिहनत कराती हैं और उसमें सारे समाज को जोत कर उसे कोल्हू के बैल के समान घुमा घुमाकर मार रही हैं। असुख और विकलता का यही कारण है।

१०. आज कल का विज्ञान नई २ आवश्यकताओं का आविष्कार करके बड़ा बुरा काम भी अच्छे कामों के साथ कर रहा है। ग़रीबों की ग़रीबी भी बढ़ा रहा है।

११. विश्व जगत और अपनी स्वाधीन शक्ति के बीच सुविधाओं के प्रलोभन से हम ने न जाने कितनी रुकावटें खड़ी कर दी हैं और इस तरह संस्कार और अभ्यास परम्परा से हम उन कृत्रिम आश्रयों को सुविधा और स्वाभाविक शक्तियोंको असुविधा समझने लगे हैं।

भय

१. जब आदमी डरजाता है, तब उसमें सुविचार करने का धैर्य नहीं रह जाता ।

२. केवल राग या द्वेष के कारण ही पक्षपात तथा अविचार हुआ करता हो सो बात नहीं है, किन्तु भय के कारण भी न्यायपरता के तराजू का काँटा बहुत कुछ काँपने लग जाता है ।

३. जहाँ पवित्रता है, वहीं निर्भयता होसकती है ।

४. सत्य के लिये मरने वाला उतना नहीं डरता, जितना मारने वाला डरता है ।

५. जहाँ पाप है, वहीं सङ्कोच है । जहां धर्म है, वहीं निर्भयता है । पापी मनुष्य कभी निर्भय नहीं हो सकता । पाप की बात करते मनुष्य को सदा सङ्कोच हुआ करता है ।

६. जहाँ मनुष्य मनुष्य के साथ हंसकर बातें नहीं करता, वहीं हम लोगों को डर लगता है ।

७. मन से भय बिलकुल नहीं जाता, तथापि डरने में स्वयं अपने तथा दूसरोंके आगे लज्जा करनी चाहिए । बचपन से ही बच्चों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि

जिससे वे भय पाते ही उसे अनायास स्वीकार न कर सकें। ऐसी शिक्षा मिलने से मनुष्य लोकलाज में पड़कर साहस करता है। अगर मिथ्या गर्व ही करना है तो, "मुझ में साहस है" यह मिथ्या गर्व ही अच्छा है। क्योंकि—चाहे दीनता कहो, चाहे अज्ञता कहो, चाहे मूढ़ता कहो, मनुष्य-चारित्रमें भयके बराबर छोटी चीज़ और नहीं है।

८. जो लोग खुशहाल हैं, जो अपने घर के अच्छे हैं, जिन के निर्वाह का साधन समाज की राय पर अवलम्बित नहीं है अर्थात् जिनको समाज की परवाह नहीं है उनको छोड़कर और लोग कानून से जितना डरते हैं उतना ही वे लोग लज्जा से डरते हैं। आदमियों को रोटी कपड़े का मार्ग बन्द कर देना उनको जेल भेज देने के बराबर है। इसलिए आदमी दोनों से बराबर डरते हैं। अपने निर्वाह के लिए जिन लोगोंने काफ़ी सम्पत्ति इकट्ठा कर ली है, काफ़ी रुपया पैसा कर लिया है और जिन को सरकारी अफ़सरों की, सभा-समाजों की और सर्व साधारण की कृपा या मदद की परवाह नहीं है वे अपने विचार सब के सामने ज़ाहिर करते नहीं डरते। उन की जो राय भली या बुरी होती है उसे वे निडर होकर साफ़२ कह डालते हैं। यदि उन्हें कुछ डर लगता है तो केवल

इतना ही कि लोग हमारी निन्दा करेंगे और दो चार भली बुरी सुनावेंगे, इस से अधिक नहीं। इन बातों को मैं सह लेते हैं और इनके सहन करने के लिए बड़ी वीरता या बड़े साहस की ज़रूरत भी नहीं है।

९. भय तिरस्कार को उत्पन्न करता है।

१०. अज्ञानता सब प्रकार के भयों की माता है।

११. रहस्य ही अनिश्चित भय का प्रधान आश्रय-स्थान है।

१२. किसी प्रबल व्यक्तिका अनिश्चित भय एक दुर्बल व्यक्ति के लिए निश्चित मृत्यु है।

१३. कायरता और बन्धुत्व परस्पर विरोधी हैं।

१४ निर्भयता अहिंसा की पहिली और अनिवार्य शर्त है।

भूल

१. भूल अज्ञान का मूल है। भूलके द्वारा छिपी हुई सम्भावनाएं प्रकाशित होती हैं, भूल का संशोधन होने पर सम्भव निश्चित होजाता है और कल्पना सिद्धांत की कोटिमें आजाती है।

२. भूल के द्वारा ही मानव जाति की नई २ संभावनाओं की सूचना मिलती है।

३. भूल अज्ञान नहीं अल्पज्ञान है। अर्थात् असली ज्ञान की प्रथम श्रेणी है।

४. भूल से भिन्न २ मार्गों की यथार्थ उपयोगिता का ज्ञान होता है।

५. मनुष्य जाति की उन्नति का विकाश भूल के ही इतिहास में है।

६. भूल के द्वारा अनिश्चित ज्ञान निश्चित होता है।

७. भूल का प्रतिशोध कर्तव्य है, रोना नहीं।

८. भूल क़बूल न करना मानसिक बीमारी है, इसे आध्यात्मिक क्षय कहते हैं। इस क्षय से मनका—आत्मा का—नाश तो नहीं होता है, परन्तु नाश की भाँति होती

है। अतः अमर आत्मा के नाश की कल्पना करनेमें दुहरा रोग हो जाता है।

९. मनुष्य अपनीही भूलका फल भोगता है। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं।

१०. शत्रुके गुणों को देखने में लाभ है। उससे शिक्षा तो मिलती ही है, परन्तु जो ग़ाफ़िल प्राणी यह मानता है कि शत्रुमें तो गुण नहीं होसकता वह हार खा बैठता है।

११. जानबूझ कर झूँठ बोलना और करना अथवा अपने दोष को देख ही न पाना और इसी भ्रम में रहना कि मैं तो बेदाग़ हूं, यह दोनों बातें भयङ्कर हैं। मनुष्य को इन से बचना चाहिए।

१२. व्यक्ति विशेष जैसे भूल कर सकता है, उसी तरह एक युग, या एक पीढ़ी से भी भूल हो सकती है। यह बात स्वयं सिद्ध है और इतिहास इस बातका गवाह है।

१३. जब कि पुण्य और विभाजक रेखा बहुत सूक्ष्म हो जाती है और जब कि कर्तव्य का निर्णय कठिन हो जाता है तब किसे विमोह प्राप्त नहीं होता।

१४. मनुष्य का स्वभाव स्खलन-शील —भूलकर बैठने वाला—है, यह विश्वास मनुष्य को नम्र बनाये बिना नहीं रह सकता।

———

दुःख-दारिद्र्य

(१)

सर्वथा परवशं दुःखं ।

अर्थ—सर्वथा पराधीन होना दुःख है ।

२. दुःख का मूल अज्ञानता में है । भिन्न २ पदार्थों का स्वभाव और उन के परस्परका सम्बन्ध नहीं जानने के कारण ही दुःख होता है । संसार में ऐसा एक भी दुःख नहीं है, जो अज्ञानता से उत्पन्न न होता हो ।

३. अभाव या ज़रूरतके मुंहसे जो आह निकलती है, वही दुःख है ।

४. मोक्ष प्राप्ति का कारण है आत्मज्ञान । आत्मज्ञान की प्राप्ति का कारण है आत्मरक्षा-वृत्ति का जागृत होना और आत्मरक्षा वृत्ति के जागृत होने का कारण है दुःख या अभाव । अतएव दुःख या दुःखदाता का उपकृत होना चाहिए ।

५. दूसरे आत्मा का संघर्ष होने से ही आत्मा को अपने रूप का यथार्थ ज्ञान होता है ।

६. दुःख सद्गुणों का पिता है, चित्त शुद्धि का कारण है।

७ दुःख सहानुभूति सिखाने के लिये आता है।

८. दुःख हमारा आत्मज है, उस के जन्म से भावी सुख की पूर्ण आशा है।

९. दुःख की अग्नि में जब हमारे सब दोष जल जावेंगे, तब हम अपनी असली प्रभासे चमकने लग जायेंगे।

१०. दुःख की मैत्री से सांसारिक सम्बन्ध का—सत्यासत्य—का निर्णय हो जाता है। इसलिये दुःख मनुष्यत्व की एक मात्र सच्ची कसौटी है।

११. वियोग के दुःख में ही प्रेम की पूर्ण प्रतीति होती है। वियोगी लोग संसारभरके सुख के लिए भी अपने वियोगजन्य दुःख को नहीं छोड़ना चाहते। सुख-वादी चाहे जो कहें, परन्तु मनुष्यको दुःख से स्वाभाविक घृणा नहीं है।

१२. अभाव की ताड़ना मनुष्य को सचेष्ट कर देती है, जिससे कि मनुष्य की भारी क्षमता में विकाश लाभ करने की उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है।

१३. दरिद्रता आपत्ति है, पर है मङ्गल प्रसविनी। गुणी पुरुषों का विकाश जैसा अच्छा आपत्ति दशा में

होता है, वैसा सम्पत्ति दशा में नहीं होता। इतिहास इस बात की गवाही देगा और महान् पुरुषोंके जीवन चरित्र चिल्ला उठेंगे कि सच कहते हो।

१४. निर्धनता से घबराते क्यों हो? क्या कान छिदाये बिना गहना मिल सकता है।

१५. ग़रीबी से दीन हीनकी ओर वह हमदर्दी जाग उठती है, जोकि भगवान से नाता जुड़ा देती है।

१६. दरिद्रता से ऊंचा पद प्राप्त होता है, दरिद्री सारी दुनियाँ को देखता है, पर उसे कोई नहीं देखता। ऊंचा आदमी ही सबको देख सकता है।

(१७)

हे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं तव दर्शनात्।
अहं सर्वत्र पश्यामि, मां च कोपि न पश्यति॥

अर्थात्—हे दारिद्र्य! तुझे नमस्कार है कि तेरे कारण मैं सिद्ध बन गया। क्योंकि मैं तो सब को देखता हूं, पर मुझे कोई नहीं देखता।

१८. विपत्ति कभी अकेली नहीं आती।

१९. दारिद्रता आपत्ति नहीं सम्पत्ति है। यदि दरिद्रता है तो हमे अपना सौभाग्य समझना चाहिये कि ऐसी मङ्गल-प्रसविनी वस्तु हमें प्राप्त हुई। सच्चा ज्ञानी

दरिद्री होने पर भी अन्य सम्पत्तिवान लोगों की अपेक्षा अधिक सुखी रहता है। जब वह अपनी कल्पना शक्ति से विचार की तरङ्गों में पहुँचता है तब वह सांसारिक सम्पत्ति को समझता ही क्या है ? उसके आगे समस्त संसार का धन तुच्छ है। अतएव दरिद्रता को श्रेयस्कारिणी समझ कर मस्त रहना चाहिये। यह दावा है कि गुणी पुरुषों का विकाश जैसा अच्छा आपत्ति दशा में होता है वैसा सुखी दशा में नहीं होता। इतिहास इस बात की साक्षी देगा और महापुरुषों के जीवन चरित्र चिल्ला उठेंगे कि सच कहते हो।

२०, भगवान कङ्गाल के घर अधिक रहते हैं।

धन, कर्ज़ा
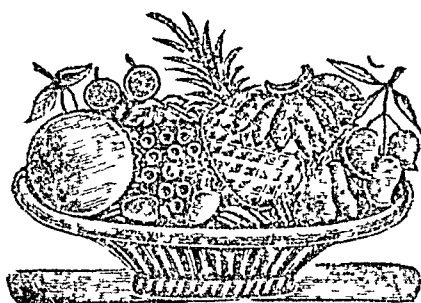
१. धन बड़ी गरम चीज़ है। इसकी गरमीसे आँखों में पानी नहीं रहता, हृदय सूखकर पत्थर हो जाता है। अतः इसे थोड़ी मात्रा में ही सेवन करना चाहिए।

२. जो धन जमा करना हो उसे खरच करने के पहिले ही निकाल कर अलग रख दो, यह मत सोचो कि खरच करने के बाद जो बचेगा, वह जमा करलेंगे।

३. जो एक पाई की परवाह नहीं करता वह एक रुपया कभी नहीं बचा सकता, जिस प्रकार हम जितना भोजन करते हैं, उससे नहीं, किंतु जितना पचा सकते हैं, उस से बलिष्ठ होते हैं। उसी प्रकार हम जितनी कमाई करते हैं, उससे नहीं, किंतु जितनी बचत करें उसी से धनाढ्य हो सकते हैं।

५. ग़रीबी की जड़ क़र्ज़ लेना है।

६. क़र्ज़ की चिन्ता लेकर उठने की अपेक्षा भूखे सो रहना अच्छा है।

७. फिज़ूल खर्ची क़र्ज़ की जननी है।

(८)

सच है कि रमती है रमा, वाणिज्यमें व्यवसायमें ।

(९)

धनहीन यदि कोई न हो, धनवानकी गिनती न हो ।

(१०)

क्या पाप का धन भी किसीका, दूर करता कष्ट है ।

११. जो कल (यंत्र) मनुष्य का बल नष्ट कर के उसे अपंग बनादे, वह कल किसी कामकी नहीं । कल, बल बढाने के लिये है ।

१२. नवीन साधन सामग्री की खोज में धन और काल व्यतीत करने की अपेक्षा उपलब्ध साधन सामग्री का उपयोग करना ही सच्चा मितव्यय है ।

१३. जो अर्थशास्त्र, नीति और सदाचार का तथा मनुष्यकी भावुकताका ख्याल नहीं करता, वह एक ऐसे मोम के पुतलेकी तरह है, जो दिखाई तो देता है—सजीवसा, पर जिस में जान का पता नहीं है ।

१४. वास्तविक अन्नाभाव उसी समय उत्पन्न होता है, जब उचित परिश्रम नहीं किया जाता । यदि मैं उचित मजदूरी दूं तो मेरे पास व्यर्थ का अधिक धन इकट्ठा ही न होने पाये ।

१५. धनिक के धन को चोरने वालेको सज़ा होती है, पर ग़रीब के धन (श्रम) को लूटने वाले को सज़ा नहीं होती, यह बड़े दुःख की बात है।

१६. किसी एक जगह खूब धन इकट्ठा होजाने से सर्व साधारण को बड़ी हानि पहुँचती है।

१७. ज धन प्राप्त करने के उद्देश्य से ग़रीबों को कष्ट देते हैं, वे एक दिन भीख माँगेंगे।

१८. जहाँ पैसा ही परमेश्वर माना जाता है, वहां वास्तविक परमेश्वर की लोग पूजा करते होंगे, इसमें सन्देह है।

अपमान-सम्मान

(१)

मृत्यु ही गति दीखती गौरव गमन के शोक में।
है मरज़ से भी बुरा अपमान होना लोक में॥

२. जो स्वयं अपने सम्मान का उद्धार नहीं कर सकता उसका इस संसार में कहीं सम्मान नहीं होता।

३. सम्मान कभी क़ानून की सहायता से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

४. जातीय सम्मान वेचकर आत्म-सम्मान मोल लेना कंगालपन है।

५. सम्मान का मूल्य स्वार्थ-त्याग है।

६. जिस मनुष्य को अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं आता उसकी मित्रता और द्वेष दोनों बराबर हैं।

७. जिस मनुष्यको अन्याय पर क्रोध आता है और जो अपमान को सह नहीं सकता वही पुरुष कहलाता है। नहीं तो वह नपुंसक के समान है।

८. जब सम्मान और स्वतंत्रता वाज़ी पर लगे हुए हों तो जो दाम दे दिये जायें थोड़े हैं।

९. जिस का प्रतिक्षण निरादर और सम्मान भंग किया जाता हो उसके साथ व्यावहारिक सम्बन्ध रखकर आत्मसम्मान को किसी प्रकार उज्वल नहीं रक्खा जा सकता।

१०. हम लोग अपमान के सम्बन्ध में उदासीन नहीं हैं। यह बात नहीं है कि हिन्दू (भारतीय) आत्मरक्षा की तुच्छ इच्छा के सामने आत्मसम्मान की बलि देता है, बल्कि वह बड़े परिवारके सामने—अपने कर्तव्य ज्ञान के सामने—उसकी बलि देता है।
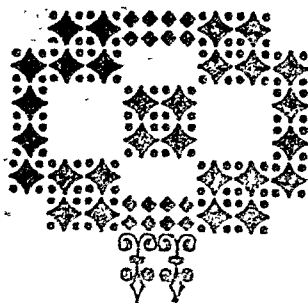
कामुकता

१. कामुकताके कारण बड़े २ दारुण उत्पात हो जाते हैं। इसीकी छोटी २ बातों से बड़े २ युद्ध ठन जाते हैं।

(२)

इश्क़ ने 'ग़ालिब' निकम्मा कर दिया।
वर्ना हम भी आदमी थे काम के॥

३. दाम्पत्य प्रेम से मानव जाति की उत्पत्ति होती है, मैत्री प्रेम से मानव जाति की रक्षा होती है और काम जन्य प्रेम से मानव जाति की दुर्दशा होती है।

४. मनुष्य की सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा पूरी हो जाने पर उसका काम विकार अवश्य शमन होजाना चाहिए।

शीघ्रता की विधि और निषेध

(१)

शुभ कार्य जितना शीघ्र हो, है नित्य उतनाही भला।

२. यदि कोई शुभ कार्य करना विचारा हो तो, आगे की प्रतीक्षा मत करो। क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका यह कार्य शेष पड़ा है।

३. शीघ्र तैयारी बड़ा घातक मोह है।

४. शीघ्रता मत करो; जिसे तुमने अपराध समझ लिया है, शायद वह अपराध न हो। क्यों कि दूसरों के मस्तिष्क और अन्तःकरण के कार्यों को तुम नहीं देख सकते हो।

५. जो कोई बड़ी व्यग्रतासे बहुत शीघ्र अपने प्रश्न का उत्तर पाना चाहता है, अधिकांश स्थलों में उसे भूल-भरा उत्तर ही मिलता है।

६. आवेश वश और तत्काल किया हुआ कार्य हार का कारण हो जाता है।

७. किसी बात को एक दम असत्य कह देना, भूल

बात नहीं जानने के नतीजे हैं। नज़दीक का कारण ढूंढ कर सन्तोष मानने वाले मूल तक नहीं जा सकते।

८. मनोवेग की तीव्रता को, भूमण्डलके सब वास्तविक तत्वों की अपेक्षा बड़ा तत्व मानने से अनेक अवसरों पर हम भयङ्कर भ्रम के शिकार होजाते हैं।

शोक वियोग
आपत्ति भास यन्त्रणा

(१)

ज्ञाताओं को भी प्यारों का, ताजा शोक छुटाता धीर।

(२)

कुछ शाँति देती है बड़ों की, सान्त्वना ही शोक में।

(३)

निकले विना बाहर नहीं, रहती हृदय की आग है।

(४)

जिगर की आग बुझ जाती है, दो आँसू बहाने से।

(५)

जल गया अन्तःकरण जब, फिर भला आँसू कहाँ।

(६)

मृत्यु, माता की जगत में, सह्य हो सकती किसे।

(७)

ज्ञानियों का भी विपद में, छूट जाता ज्ञान है।

(८)

होगी न आतुरता किसे, आपत्ति के अनुमान से।

(९)

आते बुरे दिन बीतने पर मनुज के जग में जहाँ।
जाते हुए कोई न कोई दुःख दे जाते वहाँ॥

(१०)

हो निश्चय, पर भास, धैर्य को खो देती है।

(११)

होती अतीव अपार है सुत शोक की दुःसह व्यथा।

(१२)

जीना किसे स्वीकार है आजन्म रहकर शोक में।

१३. यंत्रणा, छिपे हुए नूतन तथ्य को नहीं देखने देती।

इच्छा—अन्तःकरण
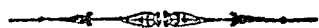
१. इच्छा कभी प्रिय मालूम होती है और कभी उस से दुःख भी होता है। कभी वह प्यारी अप्सरा के समान गाने लगती है और उस गान से हम लोगों को प्रसन्न करती है और कभी राक्षसी के समान गरजने लगती है जिससे हम लोग भयभीत हो जाते हैं।

(२)

है दुःसाध्य उसी को जंचता, जिसके जी में चाह नहीं।

३. विना ग़रज़ के मनुष्य को समझाने में भी हित नहीं है।

४. इच्छा और तत्परता दोनों एक नहीं हैं, इनमें अनहद अन्तर है।

५. हृदय के सब भावों को मिटाकर हम लोगों के मन ने अपना अधिकार बहुत बढ़ा लिया है। वह इतना बड़ा होगया है कि अब उसके लिये स्थान मिलना भी कठिन होगया है। खाने, पहननें, जीवन धारण करने, सुख स्वाधीनता से रहने, आदि के लिये जिन बातों की आवश्यकता है, उनसे भी अधिक बातों को मन चाहता

है। इस कारण सब आवश्यक कामों के होजाने पर भी मन की बहुत सी आकांक्षायें बनी रहती हैं। वह बैठे २ डायरी लिखा करता है, शास्त्रार्थ करता है, समाचार पत्रों का संवाददाता बनता है, जो बात अनायास समझी जा सकती है उसको कठिन बना देता है, जिसको एक प्रकार से समझना चाहिये उसको कुछ और ही बना देता है, जिस बात का समझना सर्वथा कठिन है उसी बात को समझने के लिये वह प्रयत्न करता है, अधिक क्या कहा जाय वह और भी बहुत से निन्दित काम करता है।

६. अन्तःकरण क्या चीज़ है? परिपक्व बुद्धि के रास्ते हमारे अन्तःकरण पर पड़ने वाली प्रतिध्वनि।

७. जिज्ञासा के बाद ही ज्ञान हो सकता है, अर्थात् ज्ञान जिज्ञासु को ही मिलता है।

८. देह के अवश होने पर भी आत्मा मन ही मन चेष्टा कर सकती है। इसके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि चेष्टा जो है वह मूल में आत्मा ही का कार्य है।

९. जिस कष्ट और अशान्ति को हम लोग अपनी इच्छा से उत्पन्न करते हैं वह कष्ट भी हम लोगों की चेतन शक्ति को उत्तेजित करता है।

बहुमत-मतभेद
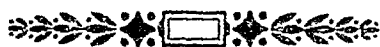
१. सत्य प्रायः अल्प मत की ओर होता है।

२. यदि तुम्हारे पक्ष में बहुमत न हो तो चिंता नहीं किन्तु सत्य न हो तो अलबत्ता चिन्ता की बात है।

३. यह समझना ठीक नहीं कि जिस बात के पक्षमें बहुमत हो वह सत्य ही हो। बहुमत द्वारा सामयिक नीति का निश्चय हो सकता है, सत्यासत्य का नहीं।

४. कोई ग़लती अपने बहुल प्रचार के कारण सत्य का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती और न सत्य, इसलिये कि उस पर किसी की दृष्टि नहीं पड़ी, मिथ्या हो सकता है।

५. बहुमत के क़ायल हुए बिना हम जातीय सभा सङ्गठित नहीं कर सकते। अगर हर एक ख़याल होने लायक़ मौक़े पर हम में से हर एक आदमी खुद ही अपने लिये क़ानून बन जायगा और जातीय सभाके प्रत्येक कार्य को सोने के काँटे में तोलेगा तो यह अत्यन्त दुःख का विषय होगा। हमें अधिकांश मामलों में अपना निर्णय

जातीय प्रतिनिधियों के हवाले कर देना होगा, हां प्रतिनिधियों के चुनाव में अलबत्ते हमें खास तौर पर सावधान रहना चाहिये। इसके सिवाय दूसरे किसी तरह कोई भी जातीय सभा —जन सत्तात्मक सभा— एक दिन भी नहीं टिक सकती।

६. बुद्धि का तारतम्य या कमी बेशी ही मत-भिन्नता का कारण होती है, यह बात सब जगह ठीक नहीं उतरती। अधिकांश स्थलों में प्रकृति भेद ही मतभेद का कारण होता है। अतः यह कथन कदापि सत्य नहीं हो सकता कि विरुद्ध पक्ष के मत का सम्मान करना अपनी निजकी बुद्धि का अपमान करना है।

७. जहाँ दलबंदी के भावों का दौर दौरा होता है वहाँ एक दल दूसरे दल पर निर्मूल आरोप किया करता है।

अनुकरण—देखादेखी

१. जितना हमारे साथ मिल सके, उतना ही अनुकरण करना चाहिए। अङ्गरेज़ों का सब अनुकरण हम में अङ्गरेज़ी भाव ला देसकता है, पर इङ्गलैंड देश नहीं।

२. कितना परिवर्तन अनुकरण कहा जा सकता है, यह निश्चय करना कठिन है। हाँ साधारण नियम की तरह एक बात कही जा सकती है। वह यह है कि जिस अंश का मेल अपने साथ मिल जाय उसे ग्रहण करना और जिस अंशका मेल अपने साथ न मिले उसको न लेने का नाम अनुकरण करना है।

३. प्रयोजन के नियमानुसार परिवर्तन होगा, अनुकरण के नियमानुसार नहीं। क्योंकि—अनुकरण बहुधा प्रयोजन के विरुद्ध होता है—वह सुख शांति और स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं है। चारों ओर की अवस्था के साथ उसका सामञ्जस्य नहीं है। उसे चेष्टा करके लाना पड़ता है और कष्ट उठा कर उसकी रक्षा करनी पड़ती है।

४. भिन्न प्रकारसे गठित समाजकी काररवाई असामान्य होने के कारण हमारे लिए हेय है। क्योंकि सर्व्वदा

और सर्व भावों में तुल्यता हो तब तो कोई वस्तु वृद्धिकर होसकती है अन्यथा विशेषता होने से वह हासकर हो जाती है।

५. अनुकरण सदैव मूल चीज़ को हलकी—कम क़ीमती—कर देता है।

६. जो लोग नक़ल करते हैं, वे सच्ची शिक्षा ग्रहण नहीं करते। वे लोग केवल बाहरी आडम्बर ही कर सकते हैं। तपा हुआ बालू, सूर्य के समान ताप तो देता है, पर प्रकाश नहीं दे सकता।

७. दूसरों (हमसे भिन्न स्थितिवालों) को जो सोहता है, सो हमें नहीं; फिर देखा देखी क्यों करते हो? कूड़ा अग्नि के शरीरको कलुषित नहीं कर सकता, मगर पानी उससे गन्दा होजाता है।

८. नक़ल केवल बाहरी आडम्बर कराके कार्य के मूल उद्देश्य को छुड़ा देती है।

९. देखा देखी करो, किन्तु एक बात में नहीं चार बात में साम्यता देखकर करो। वे चार बातें हैं, द्रव्य (शारीरिक शक्ति), क्षेत्र, काल (ज़माना) और भाव (मानसिक शक्ति)।

१०. जब कि तुम्हारी बत्ती बुझी हुई है तो दूसरों

की बत्ती से अपनी बत्तीको क्यों नहीं जलाते । जलाओ और अपने जीवनपथ को सरल बनाओ । व्यर्थ ठोकरें क्यों खाते हो !

दान और दानी

१. दान उसी का नाम है, जिससे कङ्गाल को सुख हो।

२. भूख और रोग दानसे नहीं, ज्ञानसे दूर होते हैं।

(३)

हैं सूमड़े इस विश्व में, तब दानियों का नाम है।

(४)

बोधयन्ति न याचन्तो भिक्षा द्वारा गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां नित्यमदातुः फलमीदृशम् ॥

अर्थ—भिक्षुक लोग घर २ भिक्षा नहीं माँगते, बल्कि यह उपदेश देते हैं, कि न देने वालेकी हम ऐसी दशा होती है। इसलिये नित्य दान करते रहो।

(५)

दीनों को दो वर्ना अत्याचारी छीन कर लेलेंगे।

(६)

दीनोंको देना मानो लक्ष्मीपति (दीनबन्धु) को उधार देना है।

७. अनुचित दान से अनेक समय पृथ्वी का पाप बढ़ता है।

(८)

दीनको दीजिये होत दया अरु मित्रको दीजिये प्रीति बढ़ावे।
सेवक दीजिये टहलकरे अरु साहको दीजिये आदर पावे॥
शत्रुको दीजिये वैर रहे नहीं भाटको दीजिये कीरति गावे।
पात्रहि दानसो मोक्षको कारण हाथ दियो न अकारथ जावे॥

९. जब तुम किसी को कुछ दान करो तो उससे प्रत्युपकार की आशा न करो। उसकी कृतघ्नता तुम्हें कुछ हानि न पहुँचायेगी। तुमने उसको जो कुछ दिया है, वह उसका अधिकारी था। उसके कर्मने तुम्हें देनेके लिये बाध्य किया है। तुम्हारे कर्मने तो तुम्हें भारवाही बना रक्खा था, फिर तुमको क्यों दान का अभिमान है। सोचो! समझो! इस में अभिमान की बात क्या है?

१०. चाहे जितना दान करो, परन्तु यदि दान की हेतु स्वरूप दया-बुद्धि नहीं तो वह सब निष्फल है।

११. दान-वुद्धि आत्मप्रकाशक उल्लास भाव का एक अत्यन्त छोटा प्राथमिक रूप है।

१२. धनिककी यथार्थ परीक्षा दानके द्वारा होती है।

१३. अत्याग भाव से तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा से शक्तिहीनता–अपूर्णता–का अनुभव होता है। शक्ति हीन स्वार्थी होता है, स्वार्थ से डर पैदा होता है और डरपोक दूसरेको शक्तिशाली नहीं होने देता। इस तरह त्यागभाव संघर्षणको उत्पन्न करता है।

१४ दान देने का ढँग दानी के शील स्वभावको प्रगट कर देता है।

१५. जिस वस्तु को तू चाहता हो उस वस्तु को तू दे। इससे तेरी आत्मा को खुराक मिलेगी और तू सच्चे तौर पर ज़िन्दा रहा कहा जायगा।

१६. दान देना हमारा कर्तव्य है, अतः असहाय व्यक्ति, चाहे या न चाहे—याचना करे या न करे—हमें उनकी सहायता करनी चाहिये।

१७. दूसरे को देना, इसका यह अर्थ है कि दूसरे को देकर आप खाना। मगर स्वयं उपवास करके दूसरे को देना धर्म नहीं है। क्योंकि अपने को और दूसरे को समान करना होगा—समान अनुभव करना होगा।

१८. सकाम दान, धर्म नहीं है, किन्तु व्यापार है। धर्म प्रतिफल नहीं चाहता और सकाम दान तो बदला चाहता है। परलोक में बहुत मिलने की आशा से इस लोकमें कुछ देना वाणिज्य नहीं तो क्या है? ऐसे वाणिज्य को धर्म कहना धर्म का अपमान करना है। हां ऐसा व्यापार प्रशस्त है और ऐसा व्यापारी आस्तिक है। जिसे परलोक में प्रतिफल मिलने की उम्मेद है वही तो ऐसा व्यापार कर सकता है। नास्तिक ऐसा व्यापार नहीं कर सकता।

१६. दान के पात्र वे व्यक्ति हैं, जो अपनी जीवन रक्षा करने में असमर्थ हैं। ऐसे असहाय व्यक्तियों को, जो कि अभाव की ताड़ना से व्याकुल हों, समाज में—देश में—सदा अशांति पैदा करते रहते हैं, स्थायी सहायता देकर शांति स्थापित करना, दान का उद्देश्य है।

२०. दुर्भिक्ष का मारा यदि कोई हमारी सहायता चाहता है तो हम उसे कुछ देकर ऐसा गर्व करने लगते है मानों हमने उसका बड़ा उपकार किया, उसे भिक्षा दे बड़ा अनुगृहित किया। केवल उसीसे नहीं, उसकी चौदहवीं पीढ़ी तक के लोगों से मन ही मन कृतज्ञता मनवाने का वादा करते हैं, नहीं तो हमारे मन की तृप्ति ही नहीं

होती। यदि कोई हमारा एहसानमंद नहीं हुआ तो हमें ऐसी क्या ग़रज़ पड़ी है कि जो हम तो दक्षिण में रहें और उत्तरका रहने वाला व्यक्ति हमारी सहायतासे पेट पाले। क्या यह दान है ?

२१. अगर किसी की कड़वी बात नहीं सुनना चाहे तो उसका मुँह मीठा कर।

पाप पुण्य पापी पुण्यात्मा

१. जहां मिथ्याभिमान होता है, वहीं पाप होता है।

२. पाप का मतलब है, कुदरती नियमों का जान अनजान में उल्लंघन।

३. रोग पाप का फल है।

(४)

निःशस्त्र पर आघात करना, सर्वथा अन्याय है।

(५)

सचको छिपाने के बराबर पाप कोई है नहीं।

(६)

क्या निज जनोंका त्राण करना सम्मिलित है दोषमें।

(७)

पुण्यपद मिलता न कोई आत्मदान बिना कभी।

८. कामनाओं के प्रबल होजाने से आदमी दुराचार नहीं करते, किंतु अन्तःकरण के निर्बल होजाने से वे वैसा करते हैं।

९. जो धर्मकी रक्षा में और पाप के दमनमें समर्थ होकर भी कुछ नहीं करता वह उस पाप का सहकारी है। शक्ति के अनुसार पाप रोकने का प्रयत्न न करना अधर्म है।

१०. जब कि दुर्बुद्धि जागृत हो चुकी है तो यह बात माननी पड़ेगी कि उसका कारण बहुत दिनोंसे धीरे धीरे संचित हो रहा था।

११. पाप ऊंघते और प्रमादी को ही पकड़ता है।

१२. प्रसार के बदले संकोच उत्पन्न करने से जो कारण उपस्थित होंगे, वेही अधर्म वा पाप समझे जाने चाहियें और इस पाप परिभाषा से हिंसकता, असत्य-भाषण, चोरी, इन्द्रिय विषयभोग की कुचर्या और अ-प्रमाण सांपतिक वस्तुओं का संग्रह करना, ये पांचों सर्व व्यापक पाप हैं।

१३. पुण्य का महोदय आत्मा को अपनी खरी अवस्था समझने की ज़रूरत से विमुख रखता है।

१४. लोभ पाप का बाप है।

(१५)

यह याद रक्खो पाप का होता नहीं है फल भला।

(१६)

ले डूबता है एक पापी नावको मंझधार में।

१७. जब पाप प्रबल हो जाता है, तब उससे एक प्रकारका दर्प होता है। फिर भय और शङ्का नहीं होती।

१८. पापी किंतु अज्ञानी अधिक क्षमा का पात्र है।

१९. पापी का तिरस्कार मत करो, उससे प्रेम करो और उससे प्रायश्चित कराने की कोशिस करो।

२० .किसीभी संसारीसे नहीं संसारसे घृणा करो। प्राणी मात्र भाई २ है, पर इस संसार ने उनमें फूट पटक दी है।

२१. जो उद्धत होता है, उस पर क्रोध किया जा सकता है, अतिशय पतित पर नहीं।

२२. मैं तो कुछ पाप करता नहीं, दूसरे करते हैं, इस में भला मेरा क्या दोष ? जो ऐसा सोचकर दूसरों के

द्वारा होने वाले पापको रोकनेकी कोशिश न करके निश्चित रहते हैं, वह भी पापी हैं।

---

१. आसक्त मनुष्य अन्धा होता है, उसे यह नहीं सूझ पड़ता है कि विचार कौन है और विकार कौन ?

२. मोह, स्मृति विभ्रम का कारण है।

३. प्रेम और मोह भिन्न २ है। प्रेम बदला नहीं चाहता, मोह बदला चाहता है। प्रेम कर्तव्यों को भुलाता नहीं है, मोह भुलाता है।

४. मनुष्यशरीर जैसा है, वैसा ही यदि उसको देखा जाय और उसका विचार किया जाय तो उस में मोह का कोई भी कारण दिखाई नहीं देता है। अरे इस नर कंकाल को जब सजाते हैं, तब वह मोह पैदा करता है।

(५)

दुर्बल बनाकर मोह मन को, नष्ट करता कार्य है।

(६)

संपूर्ण दुःखों का जगत में मोह ही बस मूल है।
भावी विषय पर व्यर्थ मनमें शोक करना भूल है॥

(७)

करते भला क्या विधि नियमपर मोह, ज्ञानीजन कहीं।

८. जिस प्रकार जारिणी स्त्री अपने पति को जार-जात पुत्र का लालन करते देखकर हंसती है, उसी प्रकार शरीर की अधिक चिंता तथा देखरेख करने वाले मनुष्य पर, मृत्यु हंसती है।

९. दुनियाँ के पदार्थों का निरन्तर सहवास होने से उनमें मोह का उत्पन्न होना स्वाभाविक है और मोह उत्पन्न होने से उनका तावेदार बन जाना तथा उनके संयोग वियोग में सुख दुःख का अनुभव करना भी स्वाभाविक है।

१०. जुदाई जड़ या चेतन किसी भी परिचित वस्तु की क्यों न हो, अपना असर किये बिना नहीं रहती। दो आंसू गिरा ही देती है।

११. वियोग में अधिक अनुराग होता है।

१२. मोह मनुष्यको बेचैन कर देता है। किसी कवि ने कहा है—

नेकसी कांकरि जाके परै वह पीरके मारे सुधीर धरै ना।
कैसे परै कल ऐरी भटू जब आंखमें आंख परै निकरै ना॥

१३. मोहाधिक्य के कारण वस्तु की योग्यता तथा अयोग्यता की ओर मनुष्य की दृष्टि ही नहीं जाती।

१४. शुद्ध ज्ञान जितना ही होगा, मोह उतना ही कम होगा। फिर भी अच्छा काम मोह के वशवर्ती होकर करने से भी लाभ ही है।

(१५)

संसार में सब प्राणियों का देह तक सम्बन्ध है।
पड़ मोह बन्धन में मनुज बनता स्वयंही अन्ध है॥
तनुधारियोंका बस यहां पर चार दिनका मेल है।
इस मेलके ही मोह से जाता बिगड़ सब खेल है॥

(१६)

मधु मधुरं दधि मधुरं द्राक्षा मधुरं सुधापि मधुरैव।
तस्य तदेवहि मधुरं यस्य मनोयत्र संलग्नम्॥

१७. आत्मा पर जड़ शक्ति का असर तब होता है, जब कि वह उसके आधीन होने को तैयार होता है।

सौंदर्य-रूप-कला

१. सौंदर्य उपासना द्वारा हम सुन्दर वस्तुके अस्तित्व को सार्थक कर अपनी और समूचे संसार की एकता स्थापित करते हैं, किंतु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सुन्दर वस्तु तभीतक सुन्दर रहती है, जबतक उसमें किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा न की जाय। जहाँ चेष्टा कीगई कि बस फिर सौन्दर्य उपासनाके आनन्द का लाभ हृदय से जाता रहता है।

२. सुन्दर वस्तु को अपनी सुन्दरता स्थिर रखने में सहायता देना ही सच्ची सौंदर्य उपासना है।

३. जो सौंदर्य उपभोग में इंद्रियों के सङ्ग सम्बन्ध रखने वाले चित्त के भावों का संस्पर्श मात्र नहीं है, वही सौंदर्य यथार्थ सौंदर्य है।

४. सृष्टि के जिस अंश का सम्बन्ध हम लोगों के हृदय से है, वह अंश हम लोगों के हृदय में केवल ज्ञान संचार ही नहीं करता, किंतु साथ ही साथ भाव का भी उदय करता है। जैसे फूल की पंखुड़ी।

५. मनुष्य क्या इतना कोरा मनुष्य है ? बसंत के गूढ़ रस संचार के द्वारा विकसित तरु लता पुष्प पल्लव आदि से, क्या हम लोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं है ? जो हम लोगों के घर के आँगन को छाया से छिपाये, गन्धसे परिपूर्ण किये और शाखा रूपी हाथों से घेरे खड़े हैं, वे क्या हमारे इतने ग़ैर हैं कि जिस समय वे फूल उठेंगे, उस समय हम अचकन पहर कर ऑफ़िस जाने के लिए तैयार होंगे, उस समय किसी एक अनिर्वचनीय वेदना से हम लोगोंका हृदय, वृक्ष पल्लवकी तरह काँप नउठेगा ?

६. अङ्ग सौष्ठव, अच्छे स्वास्थ्य के कारण प्रगट हुई शरीर की उज्वल क्रांति , लावण्य और मानसिक पवित्रता या प्रफुल्लता से उत्पन्न मुख की निर्मल क्रांति ही यथार्थ रूप और सौंदर्य है ।

७. सौंदर्य, पल भर में ही भाव के साथ हृदय का परिचय करा देता है । यह शक्ति सौंदर्य ही में है, दूसरे में नहीं ।

८. जड़ और आत्मा के परस्पर के सम्बन्ध का नाम सुन्दरता है ।

९. प्रकृतिमें अनन्तके अनुभवका नाम सौंदय है ।

१०. क्या कुरूपता घृणास्पद या निंद्य है? सौंदर्य का

अस्तित्व ही कुरूपताके ऊपर निर्भर है। असुन्दर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुन्दर कहलाता है।

११. अत्यन्त रूप, गुण के द्वारा संशोधित न होने पर सर्वत्र वांछनीय नहीं है।

१२. रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है, जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाये हुए बैठे हैं।

१३. सुन्दर वस्तु को भी हम इसी कारणसे सुन्दर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शोंकी झलक देखते हैं।

विवाह

१. विवाह विलास नहीं है, प्रेम विषय-लालसा नहीं है, किंतु विवाह एक कर्तव्य है और प्रेम एक निष्काम साधना है।

२. जिसमें दो आत्माएं, शरीर के विलास के लिये नहीं, किंतु आत्माके भव्य विकाशके लिये एकत्र हों, वही सच्चा विवाह है।

३. दुर्निवार इन्द्रियोंकी संयत तृप्ति, सन्तान उत्पत्ति, दाम्पत्यप्रेम और अपत्यस्नेह से क्रमशः स्वार्थपरता का

त्याग और परार्थपरता का अभ्यास आदि विवाह संस्कार के उद्देश्य हैं।

४. विवाह, अपत्यस्नेह और पितृ मातृ भक्ति की जड़ है। अतः विवाहके दिनको मानव जीवन का एक अति-पवित्र और आनन्द का दिन समझना चाहिये।

५. सच्चा क्षत्री एक स्त्री के सिवाय दूसरी स्त्रीसे प्रेम नहीं कर सकता। वह जब प्रेम करता है तब पूर्ण शक्ति से करता है। भला जब सम्पूर्ण शक्ति दान करदी गई तो क्या वह दान पीछा लेकर दूसरे को दिया जा सकता है।

६. प्रत्येक मनुष्य (पु० स्त्री) अपने में आधा है। उसकी पूर्णता तब होती है जब कि वह किसी दूसरे से (पुरुष स्त्री से अथवा स्त्री पुरुषसे) मिलता है।

(७)

संतुष्टो भार्या भर्त्ता, भर्त्ता भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याण तत्र वैध्रुवम्॥

अर्थ—जिस कुलमें भार्यासे भर्त्ता और भर्त्तासे भार्या संतुष्ट हैं उस कुल में निश्चय से आनन्द होता है।

८. अनुरागहीन सभी बन्धन अपवित्र हैं। वाध्य आलिङ्गन वेश्यासक्ति है।

६. पति पत्नि का प्रेम स्थूल वस्तु नहीं; उसके द्वारा आत्मा परमात्मा के प्रेम की झांकी दिखाई देसकती है। वह प्रेम वैषयिक प्रेम कभी नहीं हो सकता। विषयसेवन तो पशु भी करता है उसे हम पशुचर्याके नाम से पुकारते हैं।

१० दम्पतिमें से जब एक जन नैतिक अथवा अन्य कारणों से दूसरेकी इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकता, तब क्या करना चाहिये? यदि तलाक़ ही उसका एक मात्र उपाय हो तो अपनी नैतिक प्रगति में बाधा डालने की अपेक्षा बिना हिचकिचाटके उसे स्वीकार करना चाहिये। यह मान करके कि मैं निरे नैतिक कारणों से ही संयम का पालन करना चाहता हूं।

भोग

१. भोग का परिणाम अरुचि है।

२. उग्र पुण्य और भोग की ज्वाला ने आत्मा के अन्दर से प्रगटित सुधा को बहुत बार सुखाया है।

३. भोगकी वासना, प्रवृत्ति या प्रेयोमार्गमुखी इच्छा

है और भोगोंको अनित्य जानकर मुक्तिलाभकी वासना निवृत्ति या श्रेयोमुखी है ।

४. हमारे पूर्व जन्म के कर्मफल भोग के सम्बन्ध में चाहे जितना मतभेद रहे, यह सभी को स्वीकार करना होगा कि हमारे जन्मके पहिले हमारे पूर्व पुरुष जिन कर्मों को करते हैं, उनका फल हमें भोगना पड़ता है ।

५. केवल जिह्वा के आनन्द के लिये भोजन करना उसी तरह पाप है जिस तरह कि विषय भोग के लिये भोग विलास करना ।

स्त्री जाति, भारतीय स्त्रियाँ, स्त्री महत्व और उनका कर्तव्य, स्त्री शिक्षा और

स्त्री-पुरुष कर्तव्य

१. स्त्री, जगत में सब से बड़ा जादू है ।

(२)

आर्य कन्या मान लेती स्वप्न में भी पति जिसे ।
भिन्न उससे फिर जगतमें और भज सकती किसे ॥

३. स्त्री एक ही बार प्रेम करती है अर्थात् स्त्री का प्रेम एक ही बार लग्न करता है।

४. स्त्रियों का प्रेम, बिछुड़ने के समय, वियोग के समय, निराशा के समय और अवज्ञा के समय, ध्रुव तारे के समान स्थिर रहता है।

५. वही साध्वी है, जिसकी पति-भक्ति का, वियोग होने पर क्षय नहीं होता, अवज्ञा या अपमान होने पर संकोच नहीं होता, पति की निष्ठुरता दिखाने पर ह्रास नहीं होता और निराशा होने पर भी जिस में क्षोभ नहीं होता।

६. जो स्त्री, हृदय एक पुरुष को देकर शरीर दूसरे के अधिकार में नहीं दे सकती, वही स्त्री है।

७. आर्यावर्त की रमणियाँ जिसे वीर पाती हैं, उसे ही पति बनाती हैं।

८. उन्नति–जहाज़ के पाल में हवा भरने वाली कौन है? स्त्री। स्त्री के एक ताने से जो हो सकता है वह सारी दुनियाँ के मिलकर हँसने से भी नहीं हो सकता।

९. वह हाथ, जो नवजात शिशु को संभालता है, संसार की सभ्यता को भी संभालता है।

१०. मर्द भूलना जानते हैं, पर स्त्रियाँ नहीं जानतीं। स्त्रियाँ बलिदान करना जानती है, स्नेह करना जानती हैं, पर किसी घटना को भूल जाना स्त्री-जन प्रकृति के प्रतिकूल है।

११. स्त्रियाँ समाज के लिये शक्तिरूप होती हैं। यदि स्त्रियाँ चाहें तो वे दो विरोधी पक्षोंको परस्पर मिला सकती हैं।

१२. भारतीय स्त्रियोंके धैर्य, संतोष और भक्तिभाव को देख कर संसार का इतिहास अचम्भे में है।

(१३)

कीर्ति भारत नारियों की विश्व में विख्यात है।

१४. मनुष्य समाज में स्त्रियाँ सब से पुरानी हैं। पुरुष बहुत दिनों से अनेक प्रकार के कार्य, अवस्था और परिवर्तनों के प्रवाह में बह रहा है, परन्तु स्त्रियाँ सदा स्थिर हैं, वे केवल पत्नी और माता के रूप में वर्तमान हैं।

१५. भारतवर्ष का धर्म भारत के पुत्रों से नहीं, पुत्रियों से स्थिर है। यदि भारतरमणियाँ अपना धर्म छोड़ देतीं तो अब तक भारत नष्ट हो गया होता।

१६. स्त्रियोंके हंसने से (मोहमें फंसने से) संसार

में जितने अनर्थ होते हैं, उन अनर्थों में बुद्धिमानों का बुद्धिनाश भी एक अनर्थ है।

१७. स्वामी का सब से बड़ा कर्तव्य है, स्त्री को शिक्षा देना। कारण स्त्री की सुशिक्षा और सच्चरित्रता के ऊपर स्वामी का, खुद स्त्री का, उनकी सन्तान का और सारे परिवार का सुख और स्वच्छन्दता निर्भर है।

१८. पुत्र-वधू को अपनी कन्यासे भी अधिक स्नेह और यत्न से रखना चाहिये। क्योंकि उसे मां बाप के स्नेह और यत्न से अलग करके नई जगह लाते हैं, अतएव अपने माँ बाप से वह जो स्नेह और यत्न पाती थी उस से अधिक स्नेह और यत्न यदि सास ससुर से न पावेगी तो उसके उस अभावकी पूर्ति नहीं होसकेगी।

(१६)

पति के बिना पत्नी जगत में,
सुख न पा सकती कभी।

२०. स्त्री की शिक्षा केवल विद्या की शिक्षा या केवल शिल्प की शिक्षा नहीं है। ये शिक्षायें उसे दे सको तो अच्छा ही है, लेकिन स्त्री के लिये अति आवश्यक शिक्षा कर्म की और धर्म की है। वह शिक्षा देने के लिये स्वामीको खुदकर्मिष्ठ और धर्मिष्ठ बनना होगा और मौखिक

उपदेश तथा आचरण से वह शिक्षा देनी होगी। आचरण के बिना केवल ज़बानी उपदेश सम्पूर्ण रूप से कार्य करने वाले नहीं होंगे।

२१. किसी के जबरन पराधीन-अङ्ग के स्पर्श कर लेने पर भी जो स्वाधीन अङ्ग (हृदय) अपने पति में ही रखती है वही स्त्री है।

२२. दुनियां उदास थी, स्त्री उत्पन्न की गई; स्त्री वेकार थी, उसे सुन्दरता दी गई; मनुष्य हृदय में अन्धकार था, विधाता ने स्त्री को स्नेह—प्रकाश दिया और दुनियां में उजाला हो गया।

२३. स्वयंवर होना पतित्व की भिक्षा नहीं, पतित्व का दान है।

२४. जिस प्रकार दूसरोंके तपस्या करने पर हमें मुक्ति नहीं मिल सकती, उसी प्रकार केवल पुरुषोंके प्रयत्न करने से स्त्रियों की सच्ची और स्थायी उन्नति नहीं होगी। स्त्रियोंकी उन्नतिका प्रयत्न स्त्रियोंको ही करना चाहिये।

२४. स्त्री पुरुषकी गुलाम नहीं, सहचारिणी है—अर्द्धांगिनी है। पुरुषों के समान स्त्रियों के भी मन है। पुरुष जैसे अपने कार्य क्षेत्र में बड़ा है, स्त्री भी वैसे ही अपने कार्य क्षेत्र में बड़ी है।

सन्तान उत्पन्न करने का अधिकारी और सन्तान के प्रति कर्तव्य

१. संसार में मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली महत्व की जितनी बड़ी २ बातें हैं, उन में, नये जीव को जन्म देना अर्थात् सन्तान उत्पन्न करना भी एक है। यह बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है। जिस जीव को जन्म देना है, उसके पालन पोषण शिक्षण आदि का उचित प्रबन्ध करने की शक्ति जिस में नहीं है, उस के लिये इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी लेना मानो उस नये (आगत) जीव का बहुत बड़ा अपराध (अहित) करना है। उस जीव का ही क्यों संसार भर के जीवों का अहित करना है, क्योंकि असात्विक जीवन बन जाने के कारण इस नये जीव के द्वारा संसार में अशान्ति फैले बिना रह नहीं सकती।

२. जब तक वधू और वर इस बात को समप्रमाण साबित नहीं कर दें कि भावी सन्ततिके पालन पोषण शिक्षण आदि के लिये उनके पास उचित साधन है, तब तक उन्हें विवाह करनेकी अनुमतिही नहीं दी जानी चाहिए।

३. दुनियां में छोटे २ बालक बालिकाओं को, जिन की कि हम यथोचित रीति से पालना नहीं कर सकते, पैदा करना अन्याय है।

४. जिनका शरीर और मन योग्य हो, वे ही नर नारी विवाह सूत्र में आवद्ध किये जायं और जो अयोग्य हैं उनको सन्तान पैदा करने से रोका जाय। जो लोग सब से पहिले ऐसा करेंगे वे ही पृथ्वी के नेता होंगे।

५. सृष्टि रचना—संतान-उत्पत्ति—प्रकृत प्रेरणा में ही करना चाहिए।

६. सन्तान के प्रति हमारा ख़ास कर्तव्य यह है, कि उन्हें कर्तव्य पालन करने के योग्य बना दें।

७. किसी प्राणीको पैदा करके, उसे संसारमें अपने और पराये से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारों को, भली भांति करने के योग्य बनाने के लिए, उचित शिक्षा देना माता पिता का विशेषकर पिताका सबसे बड़ा कर्तव्य है।

८. पिताका कर्तव्य है अपने पुत्रको मनुष्य बना देना।

९. स्त्री की बुद्धि और पुरुषकी इच्छा शक्ति संतान में उतर आती है। अतएव श्रेष्ठ संतति के लिए यह ज़रूरी है, कि बुद्धिशाली स्त्री और बहादुर पुरुष का सम्बन्ध हो।

आदर्श

१. माता पिता का कर्तव्य है कि वे इस तरह से अपना जीवन बितावें कि उनका दृष्टांत ही सन्तान को नीति की शिक्षा दे।

२. आदर्श उच्चसे उच्च रखना चाहिये। क्योंकि आदर्श कर्मजीवन का प्राण है। हम चाहे विचार करें या कार्य करें, परन्तु आदर्श हमारे समस्त जीवन को घेरे हुए हैं। जाने या बिना जाने हमें अपना प्रत्येक काम आदर्श के प्रकाश में ही करना पड़ता है। हम लोगों की इस समय जो अवस्था है, वह आदर्श से उत्पन्न हुई है। और जो अवस्था आने वाली है, वह भी आदर्श से ही होगी।

३. चर्या से आदर्शका पता लग जाता है।

४. जो लोग वचनों द्वारा आदर्शका एक सुन्दर चित्र बना सकते हैं, अथवा जो लोग बुद्धिबलसे सूक्ष्म तत्वों का आविष्कार कर सकते हैं, ऐसे लाखों लोगोंकी अपेक्षा वह मनुष्य, जिसने अपने जीवनमें आदर्शको प्रतिबिम्बित किया है, अधिक शक्तिशाली है।

५. अधिक जीवन को अपना उद्देश्य न समझो

वरन् उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए जीवनको आवश्यक समझो।

६. स्त्रियों को पति पूजा सिखाने का प्रयत्न करने की अपेक्षा, पुरुषों को देवता बनने की शिक्षा, अधिक लाभकारी है।

७. उपदेशक जितना आचरण कर सकता है, उस से अधिक वह उपदेश करे तो उसका कुछभी असर नहीं होता। यह सत्य की खूबी है, उसे भाषा के आच्छादन से कितना ही ढांकिये, वह नहीं ढंक सकता। मनुष्य की करनी ही सच्चा उपदेश है।

८. जो मनुष्य गम्भीर और बुद्धिमान होते हैं, वे निम्न और अदूरदर्शी मनुष्योंकी भांति अपने विश्वासों को पल २ में वर्णन नहीं करते, परन्तु उन्हें व्यवहार में लाकर दूसरों को दिखा देते हैं कि तुम भी ऐसा करो।

९. जहां वाचा और मनमें एकता नहीं, वहां वाचा केवल मिथ्यात्व है, दम्भ और शब्द जाल है। जो हृदय में है, वही सच है। हृदय की तोतली बोली ही ईश्वरके दरबार में क़बूल होती है।

१०. मनुष्य का आचरण ही उसका मौन उपदेश है।

वीर या आदर्श पुरुष

१. महावीर पुरुष जैसे दयालु और रागी नहीं होते वैसे घातकी और द्वेषी भी नहीं होते।

२. तेजस्वी पुरुष के गुण तब तक नहीं झलकते जब तक उस के ऊपर समय की प्रतिकूलता का दबाव न पड़े।

३. यदि प्रकृति कष्टों के लिए इस खोटे संसार में से असाधारण व्यक्तियों का चुनाव न करती तो मनुष्य संसार का कैसा हाल होता ?

४. भ्रम और अपराध मनुष्यसे बीच २ में हो जाते हैं, किंतु उसे स्वीकार करके जो अपनी इच्छा से उस अपराध का दंड सिर झुका कर स्वीकार करलेता है, वह देवता चाहे न हो पर मनुष्य अवश्य है।

५. महापुरुषको जब मृत्यु आलिंगन करेगी, उस समय भी वह उन्हे कर्तव्यपालन करते हुए ही पावेगी।

६. जो मनुष्य भोग (शक्ति क्षय) के संयोग में भी अपना योग (शक्ति) संचय करने में समर्थ होता है, वही खरा योगी बन सकता है।

७. जो पराक्रम और पांडित्यमें, वीरता और शिक्षा

में, कर्म और ज्ञान में, नीति और धर्म में, दया और क्षमा में समान रूप से श्रेष्ठ है वही आदर्श पुरुष है।

८. वह चरित्र धन्य है, जिस के प्रभाव से वेश्या सती हो जाय, पापी पवित्र हो जाय, कामुक और लंपट जितेन्द्रिय बन जाय और मानी का सिर झुक जाय।

९. सभी कार्य (कृति–आचरण) अपने ही लिए किए जाते हैं, ऐसा मत समझो। आदर्श पुरुष दूसरों के लिए भी अनेक कार्य करते हैं।

पश्चाताप–प्रायश्चित

१. यदि पछताओगे तो कुछ स्वाद मिलजावेगी।

२. पापीको पहिले प्रायश्चित्त करनेका अवकाश दो, पीछे उचित दण्ड दो।

३. पश्चाताप उसी दशामें प्रायश्चित्त है जब कि पाप-परिणाम दूर करने का उपाय न हो। उपाय रहते, उपाय न करके कोरा पश्चाताप करना—रोना—कदापि प्रायश्चित नहीं कहा जा सकता।

४. ऐ मनुष्य! रात हो गई, तू सोने के लिये तैयार हो। परन्तु जब तक तू सारे दिन में किये हुए कामों की

अन्तःकरण से जांच न करले, तब तक निद्राके वशीभूत मत हो। अपने मनसे तू विचार कर कि आज मैंने कौन २ से कार्य किए हैं, उनमें मैंने क्या २ भूलेंकी हैं, मैंने अपने करने योग्य कौनसा कार्य नहीं किया? इस रीति से जांच करने से यदि तुझे ऐसा मालूम हो कि आज मेरे हाथसे कोई अयोग्य कार्य हुआ है, तो इस के लिए तू अपने आप की तीव्र निन्दा कर और यदि तुझसे कोई अच्छा कार्य बन गया है तो उस के लिये आनन्द मान।

५. दण्डको सामने न देखते हुए जो अनुताप होता है, वही सच्चा अनुताप है।

६. दण्ड और प्रायश्चित में बहुत बड़ा अन्तर है। दूसरों के द्वारा अपराध का प्रतिफल पाना दण्ड है और अपने ही द्वारा अपराध का संशोधन करना—उससे मुक्त होना—प्रायश्चित है।

स्वावलम्बन—परावलम्बन

१. पर की बुद्धि पर चलने वालों को सिवाय घब-राहट के और क्या मिलने वाला है।

२. बाहर से बल नहीं, धक्का मिलता है। बल तो अन्दर से ही मिलता है।

३. मांगने से नहीं, प्राप्त करने से मिलता है।

४. जब तुम एकबार निश्चिय करलो कि बड़ा बनना है, फिर दूसरों का भरोसा छोड़ कर आत्मविश्वासी बनो, दृढ़ रहो, संसार की परवाह मत करो और सहसा ढीले पड़कर उसे मनाने की चेष्टा में मतपड़ो।

५. किसी की आश मत करो। जो दूसरे की आश करेगा उसे निराश होना पड़ेगा।

(६)

वह कौन कार्य है हम जिसे—
कर न सकें पूरा कभी।

७. कोई चीज़, कोई सुख, कोई सहूलियत, कोई लाभ, मेहरबानी के रूप में स्वीकार मत करो। नहीं तो इन चीज़ों के सहवाससे उत्पन्न होने वाला आराम; जब ये चीज़ें नहीं होंगी तब, तुम्हारे जीवन को असह्य बना देगा।

(८)

आत्मावलम्बन ही हमारी मनुजता का मर्म है।

९. आत्मावलम्बन आत्मशाशन क्षमताकी अचूक कसौटी है।

१०. पूर्ण शुद्धता स्वयं ही अपनी रक्षा करने में समर्थ होती है।

धर्म

१ धर्म उन आत्माओंके लिये दवाखाना है, जिन्हें संसारने घायल कर दिया है।

२ धर्म और व्यवहार परस्पर विरुद्ध वस्तु नहीं हैं। जब व्यवहार धर्म का विरोधी दिखाई दे तब वह त्याज्य है। धर्म की जांच भी तभी होती है, जब वह व्यवहार में परिणत होता है।

३ जो अभ्युदय विकाश एवम् गतिप्रद न हो, वह धर्म नहीं है।

४ जब तुम में दुःख को चेलेंज देने की मस्ती आ जाय तब समझ लेना कि तुममें धर्म मार्गपर चलने की योग्यता आगई। इस के पहिले नहीं।

५ "जे कम्मे सूरा ते धम्मेसूरा" अर्थ—जो कर्म में शूर वीर हैं वही धर्म में शूर वीर हो सकते हैं।

६ अनुचित प्रयोग—व्यवहार—का नाम अधर्म है।

७ यदि धर्म सच्चे सुख का उपाय है तो मनुष्य जीवन के सब अंशों को धर्मपर ही चलाना उचित है।

८ क्या हम धार्मिक हैं? मित्रों क्यों झूठ बोलते हो? धर्म से तो अभ्युदय होता है और हम तो पतित हैं।

ज़रा सोचो ! कार्य-कारण के सम्बन्धमें कभी भूल नहीं पड़ सकती है। यदि हम धर्म के उन्मुख रहे होते तो आज हमारी पतित दशा क्यों होती ?

९ धर्म तो उसी को कहना चाहिये, जिसका पालन मरणांत तक किया जाय। नहीं तो उसे या तो सुविधा या विनोद कहना चाहिये।

१० वह मनुष्य जिसे अपना मज़हब (मत) सचमुच प्यारा है, दूसरे मज़हब वालों के साथ सच्ची हमदर्दी ज़ाहिर किये बिना नहीं रह सकता।

११ स्वेच्छाचार कभी धर्म नहीं हो सकता।

१२ पूर्व परम्परा तथा आनुवंशिक संस्कार, जल वायु तथा दूसरी आस पास की बातों के प्रभावको उन्मूलित करने का प्रयत्न केवल असफल ही नहीं, बल्कि अधर्म होगा।

१३ धार्मिक भावसे मनुष्यको विचार और आचार के सुन्दर मेल का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

१४ धर्म का भूषण वैराग्य है, वैभव नहीं।

१५ आचरण से भिन्न ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे धर्म की व्याख्या कह सकते हों।

१६. धार्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिये हर तरह की सम्पत्ति का त्याग आवश्यक है ।

१७. दया से हीन धर्म पाखण्ड है । दया धर्म का मूल है ।

१८. जिस धर्माचरण का पालन हर सम्प्रदाय और धर्म वालोंके लिये लाज़मी है, वह तमाम सम्प्रदायों से अवश्य ही श्रेष्ठ होगा ।

१९. धर्म और कुछ नहीं, द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर दृष्टि रखकर, जन साधारण को बलवान—महत्त्वापूर्ण—बनाने के लिये, ऐश्वर्यशाली इच्छा हो तो ईश्वर कहलो) व्यक्ति जो व्यवस्था नियत करदे, बस इसी का नाम धर्म है ।

२०. जिस से प्राणियों की रक्षा हो, वही धर्म है।

२१. दूसरोंका अनिष्ट करना ही अधर्म है । दूसरों का अनिष्ट करके अपना हित साधन करनेका किसीको अधिकार नहीं है ।

२२. धर्म संयम में है, स्वच्छन्दता में नहीं। भोग हरगिज़ धर्म नहीं ।

२३. धर्म में बल प्रयोग नहीं हो सकता । धर्म तो तलवार की धार है ।

आत्म-निरीक्षण

१. जो अपने दोषों को पर्वत के समान मानते हैं उन्हें दूसरों की भूलें खोजने के लिये बहुत कम समय रहता है। फिर तो मनुष्य को स्वयं अपने दोषों से दुःखी होना रह गया और दुःखी होने की इच्छा तो वह स्वभावतः ही नहीं करता। इस से वह अपने पहाड़ जैसे दिखाई देने वाले दोषों को जल्दी ही दूर कर डालता है।

२. जब तुम अपनी आत्मा को देखो तो कड़ी और तीव्र दृष्टि से देखो, परन्तु जब दूसरों को देखो तो अनुकंपा से देखो।

३. हम एक दूसरे की चौकी करने या क़ाज़ी बनने की बनिस्बत खुद अपनी चौकी करें, तो खुद हमारी भी रक्षा हो और संसार को भी दुःख से बचा सकें।

४. हृदय के धक्के का अनादर न करना चाहिए। धक्के का उपयोग करके वह घाव ताज़ा ही रखना चाहिए और उस दर्द के जोश से आत्मा को आगे २ बढ़ाना चाहिए। अगर धक्के का घाव मिट गया—ताज़ा न रहा और गर्म घाव में काम न किया—तो फिर ऐसा मौक़ा आना दुर्लभ हो जायगा।

पवित्र भावना

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ भावो विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥ १ ॥

सुमैत्री जीवों में सुगुणि गण को देख उमगूं,
दया को ही धारूं दुखित जन को देख करके ।
उपेक्षा हो मेरे मुदित मनमें क्रूर जन से,
सदा भगवन ऐसी परिणति रहे बोध बल से ॥१॥

संपूजकानां प्रतिपालकानां-
यतीन्द्र सामान्य तपो धनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः-
करोतु शान्ति भगवान जिनेन्द्रः ॥२॥

सम्पूजकों को प्रतिपालकों को,
यतीन्न को औ यति नायकों को ।
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले,
कीजे सुखी हे प्रभु शांति को दे ॥ २ ॥

क्षेमं सर्व प्रजानां प्रभवतु बलवान्–धार्मिको भूमिपालः ।
कालेकालेच सम्यग्वर्षतु मघवा–व्याधयो यान्तु नाशम् ॥
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां–मास्मभूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं–सर्व सौख्यं प्रदायि ॥ ३ ॥

होवै सारी प्रजा को सुख, बलयुत हो धर्म धारी नरेशा ।
होवै वर्षा समय पर तिलभर न रहे व्याधियों का अँदेशा ॥
होवै चोरी न जारी सु समय वरतै हो न दुष्काल भारी ।
सारे ही देश धारैं प्रभु वर वृषको जो सदा सौख्य कारी ॥३॥

शास्त्राभ्यासो जिनपति नुतिः–सङ्गतिः सर्वदार्यैः ।
सद्वृत्तानाम् गुणगणकथा–दोषवादे च मौनम् ॥
सर्वस्यापि प्रिय हितवचो–भावना चात्म तत्वे ।
सम्पद्यन्तां मम भव भवे–यावदेतेऽपवर्गाः ॥ ४ ॥

शास्त्रों का हो पठन सुखदा लाभ सत्संगती का ।
सद्वृत्तों का सुजस कह के दोष ढाकूं सभी का ॥
बोलूं प्यारे वचन हित के आपका रूप ध्याऊँ ।
तौलों सेऊँ चरण प्रभु के मोक्ष जौलों न पाऊँ ॥ ४ ॥

शिवमस्तु सर्वजगतः परहित निरता–भवन्तु भूप गणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र–सुखी भवन्तु लोकाः ॥ ५ ॥

संसार वैचित्र्य

यह जगत वाणी मय है, उसकी जिस दिशा से सुनना बन्द किया जायगा उसी दिशा से मृत्यु का वाण आकर हमारे ऊपर पड़ेगा ॥ १ ॥

हम यहां (संसार) में बावले होकर इधर उधर भटकते हैं और जो यहां नहीं है उसकी खोज करते हैं। बाहर से हंसते हैं, बोलते और दूसरों को चिंता से छूटने का उपदेश देते हैं, किन्तु हमारे हृदय में एक प्रकार के दुःख का विचार चला ही करता है। जिस समय हम अति ललित स्वर में मीठा गान गाते हैं उस समय भी हमारा अन्तःकरण दुःख से भरा होता है ॥ २ ॥

संसार का यह एक स्वाभाविक नियम है कि हीनता के प्रति आघात और अवमानना होती है ॥ ३ ॥

अनेकों के भोग—बलि बिना युग प्रधान नेता नहीं पक सकता—पैदा नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

सीधा रास्ता दिखाई तो तमाम दुनियां को पड़ता है, परन्तु हज़ारों में एक आदमी भी सीधे रास्ते पर चल सकता है या नहीं इसमें सन्देह है ॥ ५ ॥

पृथ्वी में जितने दुःख हैं उतनी दया नहीं है। यहां कितने ही दुःख तो ऐसे हैं जिनका आश्वासन कहीं और कभी नहीं होता। तथा ऐसे भी कितने ही स्थान हैं जहां प्रेम की अनावश्यक अधिकता देखी जाती है॥ ६॥

पद्य :—

(७)

मरण एक न एक दिन तनु धारियों का सिद्ध है।
जन्म से ही मरण का सम्बन्ध लोक प्रसिद्ध है॥

(८)

इस लोक में हो सक्ती है परलोक तक की खोज भी॥

(९)

बस दुःख में ही दुःख होता घाव में ही घाव है॥

(१०)

जो होरहा अवनत अभी उन्नत रहा होगा कभी।
अवनत रहा होगा कभी जो होरहा उन्नत अभी॥
संसार में किसका समय है एक सा रहता सदा।
है निशि दिवा सी घूमती सर्वत्र विपदा सम्पदा॥

(११)

देख कर संसार को आता यही मन में कभी।
जा रहें ईश्वर! कहाँ हम, त्याग कर इसको अभी॥

(१२)

एक से है एक उत्तम पुष्प इस संसार का ।
पार मिलता है किसे प्रभु-सृष्टि पारावार का ॥

(१३)

है विचित्र चरित्र जग के नित्य नूतन सर्वथा ॥

(१४)

कौन कह सकता कि कब होजाय क्या से क्या यहां ? ॥

(१५)

पड़ भोग की ही भ्रांति में संसार जाता है छला ॥

(१६)

भगवान जाने काल की कैसी निराली चाल है ॥

(१७)

है विश्व में सब से बली सर्वांत कारी काल ही ।
होता अहो ! अपना पराया कालके वश हाल ही ॥

(१८)

धूम चारों ओर जिनके व्याह की कल हो मची ।
आज उनके ही लिये देखो चिता जाती रची ॥

(१९)

सब बातें, अनुरूप जगत के हो जाती हैं ।
कुसमय में क्या भली वस्तुएं भी भाती हैं ॥

(२०)

विष बीज बोने से कभी जग में सुफल फलता नहीं ।
विश्वेश की विधिपर किसीका वश कभी चलता नहीं ॥

(२१)

दीखते नर रत्न जैसे झोंपड़ों में भी कहीं ।
व्योम चुम्बी राजगृह में जन्मते वैसे नहीं ॥

पद्य उर्दू

(२२)

वाँ से याँ आये थे ऐ ज़ौक़ तो क्या लाये थे ।
यां से तो जायंगे हम लाख तमन्ना लेकर ॥

(२३)

आप आइनये हस्ती में है तू अपना हरीफ़ ।
वर्ना याँ कौन था जो तेरे मुक़ाबिल होता ॥

(२४)

मौत ने कर दिया लाचार वगर्ना इन्साँ ।
है वह खुदबीं कि खुदा का भी न क़ायल होता ॥

(२५)

दुनियां है वह सय्याद कि सब दाम में इसके ।
आजाते हैं, लेकिन कोई दाना नहीं आता ॥

(२६)

लाई हयात आए क़ज़ा ले चली चले ।
न अपनी खुशी आये हम न अपनी खुशी चले ॥

(२७)

अनुकूल जो अपने हुए वे ही यहां सद्ग्रंथ हैं ।
जितने पुरुष अब हैं यहाँ उतने समझ लो पंथ हैं ॥

(२८)

धिक्कार है संसार की निःसारता को सर्वथा ॥

केवल आत्मरक्षा और जन्मदान के तन्त्र ही इस सृष्टि के महाचक्र को नहीं घुमा रहे हैं, इस में संभोग भी है। अन्यथा क्या कारण है कि पक्षी इतने आवेग से क्यों गा उठता है? यदि भूख और प्यास का मिटना ही इस जीवन की चरम लीला है तो आहार के इतने सरस और स्वादिष्ट होने का क्या प्रयोजन था ॥ २६ ॥

इस संसार में जितना दुःख है, उसका बहुत ही छोटा हिस्सा राजाके कानून के आधीन है। कानून उसी छोटे हिस्से का फल देसकता है या उतना ही दुःख दूर कर सकता है ॥ ३० ॥

विचित्रता ही संसार के स्वास्थ्य की रक्षा करने वाली है। पृथ्वी पर जाड़ा गर्मी समान नहीं है, इसी से तो हवा चलती है ॥ ३१ ॥

हक्क के विषय में सब व्याख्यायें झूंठी हैं। सच तो यह है कि जो शक्तिशाली है, वही हक्कदार है ॥२२॥

आजकल भारत में अदृष्टवाद और कर्मकाँड, वैराग्य और गृहस्थाश्रम, एक ही साथ चल रहे हैं ॥ २३ ॥

मनुष्य जब अपने को एक रजःकण से भी क्षुद्र मानता है, तब ईश्वर उस की मदद करता है। ईश्वर रास्ता दिखाता है पर जब कि क्षितिज घोर अंधकार सरे व्याप्त हो ॥ २४ ॥

निरीश्वर मत मनुष्य के ओष्ठों में ही वास करता है, हृदय में नहीं। यही कारण है कि निरीश्वर वादी अपने मतके विषय में सदैव ही वादा विवाद किया करते हैं; मानो अपने मतकी सत्यता का उन्हें स्वयं ही निश्चय नहीं है और निश्चय न होने से ही मानो ये दूसरे की अनुमति गृहण करके अपने निश्चय को पुष्ट करना चाहते हैं ॥ २५ ॥

पद्य —दिल को सर -रा बाज़ार जहां कर न उचाट।
जिस तरह बने सूदो ज़ियाँ में दिन काट॥
ऐ ज़ौक़ फ़लक के जब हैं बारह हिस्से।
सौदा हो न क्यों ज़ोर फ़लक बारह बाट॥

अर्थ—संसार के बाज़ार में तू अपने मन को खिन्न

मतकर जिस प्रकार होसके अपने जीवन को व्यतीत कर और सन्तोष धारण कर ।

प्रकीर्णक

(१)

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोतिकिम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥

(२)

मुख चिन्ह से ही चित्त की बुध जान लेते हैं सभी ।

(३)

क्या देर लगती है बिगड़ते जब बिगड़ने पर हुए ?

(४)

लाभ कुछ होता नहीं है व्यर्थ के विस्तार से ।

(५)

हो गया सो तो गया अब रहा सो कुछ कम नहीं ।
छोड़ दो गत बात को गत बात में कुछ दम नहीं ॥

(६)

कब तक रहेगा वह अटल जो क्षीण-बल श्रम से हुआ ।

(७)

दोषी किसी के सामने क्या सिर उठा सकते कभी ।

(८)

गौण बातों पर किसी का ध्यान भी जाता नहीं ।

(९)

कुछ भेद बाहर क्यों न हो भीतर भला क्या भेद है ?

(१०)

उत्थान के पीछे पतन सम्भव सदा है सर्वथा ।

(११)

हां विधि विरुद्धाचार से किस को नहीं मरना पड़ा ।

(१२)

याद रक्खो बात यह रहता तनु स्थायी नहीं ।
बंधन विनश्वर विश्व का है सत्य सुखदाई नहीं ॥

१३. जब मित्र की सच्चाई का ही भरोसा नहीं तो शत्रुओं की खुशामद का क्या विश्वास ।

१४. भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है यहां पर कोई भी अच्छी रीति, बिना उस पर धर्म की मुहर लगाये, नहीं चल सकती ।

१५. विनय द्वेष का विरोधी है ।

१६. जो बात हमें पटती नहीं उसे करने की शक्ति भी हमारे अन्दर नहीं होती।

१७. जीवन के नियमों का विरोध मत करो। वे नियम रोगों से शरीर की स्वयं रक्षा करेंगे। औषधियां उन नियमों के समान लाभ नहीं पहुँचा सकतीं।

१८. कोई उपाय सर्वथा हितकर नहीं हो सकता। सिर्फ़ हानि के प्रमाण में अधिक लाभदायक हो वही हित कर मान लिया जाता है।

१६. जिस शक्ति से सन्तान अथवा मनुष्य सृष्टि हो सकती है उसी शक्ति से भावना सृष्टि हो सकती है। मात्र दिशाएं भिन्न २ हैं।

२०. यदि तुम अपने मूर्खत्व को पहिचानते हो तो सचमुच तुम बड़े विद्वान् हो !

२१. प्रतिद्वंदी का आभार मानना चाहिए क्योंकि उसने तुम्हें अपनी शक्ति खोजने का अवसर दिया है।

२२. बाहर की मिठास असल चीज़ की क़ीमत को कम कर देती है।

२३. मूर्ख बूंद के लिए मरता है और समुद्र को खो देता है।

२४. जो लोग भावना प्रधान होते हैं उनके सामने विपक्षी की बुद्धि काम नहीं करती।

२५. किसी आदमी का निश्चय—निर्णय या मत—यदि विश्वस्त है तो क्यों ? इसलिये कि वह अपने निर्णय की समालोचना सुनने को हमेशा तैयार रहता है।

२६. दूसरे की चीज़ को अपनी समझना ही आफ़त का घर है।

२७. अत्यन्त पवित्र बलिदान ही परमात्मा को प्रसन्न कर सकता है।

"आदर्श जैन चरितमाला" के सम्पादक और सुप्रसिद्ध लेखक पं० मूलचन्द्र जैन "वत्सल" द्वारा लिखित तथा संपादित सर्वोपयोगी पुस्तकें—

आदर्श जैन महात्मा

जैनधर्म के प्रचारक, सत्यमार्ग के उपदेशक आदर्शमहात्माओं के पवित्र जीवनचरित्र बिलकुल उपन्यास के ढङ्ग पर सुन्दर भाषा में अनेक प्राचीन ग्रंथों के आधार पर लिखे गये हैं। इनके पढ़ने से हृदय में आत्मज्ञान, पवित्रता और सच्चरित्रता के साथ २ महापुरुषों की महानता का पूर्ण परिचय मिलता है। २७५ पृष्ठकी सुन्दर पुस्तकका मूल्य केवल १)

सुदर्शन नाटक

अपने ढङ्ग का यह एक नवीन ही नाटक है। इस में ब्रह्मचर्य और धर्म की दृढ़ता का दृश्य बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। साथ ही साथ सामाजिक कुरीतियों के दिखलाने वाले हास्य व विनोदपूर्ण दृश्यों को भी सफलता पूर्वक दिग्दर्शित किया गया है। भाषा और भावों की सुन्दरता अनूठी है। इस नाटक की सभी जैन अजैन विद्वानों ने खूब ही प्रशंसा की है। सुन्दर सजिल्द पुस्तक का मूल्य ॥)

ऐतिहासिक महापुरुष

इस में जैन समाज के अनेक वीर और महापुरुषों की अद्भुत वीरता, स्वार्थ-त्याग और महान शक्ति का वर्णन किया गया है। इसके पढ़ने से आप को जैन महापुरुषों की अद्वितीय-वीरता और विश्वविजयिनी-शक्ति तथा महात्म्य का भली प्रकार ज्ञान होजायगा। पृष्ठ संख्या १२०; मूल्य ॥) मात्र।

वीर-पंच-रत्न

(आदर्श-जैन-कुमार)

यह पुस्तक क्या है, वीरता का जीता जागता चिन्ह है। इसमें जैन कुमारों की वीरता, धर्म-दृढ़ता और कर्तव्य-परायणता का वर्णन इस प्रकार की भाषा तथा छन्दों में किया गया है, कि मुर्दा दिलों में भी वीरता का जोश उमड़ आता है और आत्मगौरव तथा मानवी-शक्ति से हृदय भर आता है। बालकों के लिए तो वीरता का मन्त्र ही है। पृष्ठ संख्या ११० सुन्दर छपाई। मूल्य ।=) मात्र।

सतीरत्न (आदर्श जैन कुमारिएँ)

यदि आप ब्रह्मचर्य और चारित्र के द्वारा दृढ़ शक्ति और सम्मान प्राप्त करना चाहते हैं तथा अपनी पुत्रियों, माताओं और पत्नियों को धर्मशीला, दृढ़व्रता और कर्तव्य निष्ठा बनाना चाहते हैं तो धर्मशीला कुमारियों के पवित्र चरित्रों को इस पुस्तक द्वारा अवश्य पढ़िये। मूल्य ।) मात्र।